एम.ए. (उत्तरार्द्ध) संस्कृत

M .A (उत्तरार्द्ध) सेमेस्टर III संस्कृत

301 - भाग -क- 2

संस्कृत का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण

मुक्त शिक्षा विद्यालय

(मुक्त शिक्षा परिसर)

दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत - विभाग

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

अध्ययन सामग्री-2

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

पाठ-11

वैदिक संस्कृत और अवेस्ता

1. पृष्ठभूमि

यद्यपि कई भारतीय विद्वान इस तर्क से पूरी तरह से सहमत नहीं हुए कि आर्य कहीं बाहर से भारत में आए थे, पर विश्व और भारत के अधिकांश इतिहासकारों और भाषा वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि अत्यन्त प्राचीन काल से घुमन्तु आर्यों ने मध्य एशिया से चलकर ईरान के रास्ते भारत में प्रवेश किया था। ईरान में पहुंचकर इन आर्यों के दो दल बन गए। इनमें से एक दल ईरान में ही ठहर गया और वहाँ का स्थायी निवासी हो गया। दूसरा दल आगे बढ़ा और गान्धार देश को पार कर खैबर और बोलान के दर्रों में से गुजरता हुआ दक्षिण पूर्व की ओर चलते हुए भारत के उस प्रदेश में पहुंचा जिसे इतिहासकारों ने वैदिक काल का सप्तसिन्धु प्रदेश माना है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईरान और भारत के निवासी आज भले ही पृथक्-पृथक् देशों की प्रजा हों, परन्तु बहुत प्राचीन काल में वे एक ही परिवार के सदस्य और एक ही पिता की सन्तान थे। इतना ही नहीं अलग होने से पहले वे एक ही स्थान पर रहा करते थे और आधुनिक भाषाविदों की शैली में कहें तो एक ही मकान की छत के नीचे रहा करते थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वे प्रारम्भ में एक ही भाषा बोलते रहे थे। ईरान से चलकर प्राचीन आर्य जब भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश में पहुंचे तो वे अपनी परम्परागत भाषा को भी साथ ले आए। भारत में आने के बाद जलवायु के परिवर्तन और कई सामाजिक-राजनीतिक कारणों के परिणामस्वरूप सप्तसिन्धु की भाषा में कई प्रकार के परिवर्तन हुए जो मुख्यरूप से ध्वनि सम्बन्धी ही थे। ईरान का प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ 'अवेस्ता' माना जाता है जिसकी भाषा को भी विद्वानों ने 'अवेस्ता' नाम दिया है। सप्तसिन्धु में आकर प्राचीन भारतीय आर्यों ने मन्त्रों की रचना की जिसका प्राचीनतम संग्रह हमारे पास ऋग्वेद के रूप में उपलब्ध है जो चार वैदिक संहिताओं में से एक है। ऋग्वेद की भाषा को वैदिक भाषा कहा गया है जिसे हम आजकल संस्कृत का प्राचीन रूप मानते हुए वैदिक संस्कृत कहते हैं और लौकिक संस्कृत से उसे कुछ पृथक् कर देते हैं।

अवेस्ता की भाषा और ऋग्वेद की भाषा वैदिक संस्कृत में वैषम्य कम है और साम्य अधिक है। चूँकि आर्य ईरान की ओर से होते हुए सप्तसिन्धु प्रदेश में आए, इसलिए यहाँ आकर उन्होंने जिस भाषा का विकास किया उसे हम कालक्रम की दृष्टि से ईरान के आर्यों की भाषा से परवर्ती ही मान सकते हैं जो स्वाभाविक ही है। पर इससे यह स्वतः सिद्ध नहीं होता कि अवेस्ता की भाषा भी वेदों की भाषा से पुरानी है। इसका कारण यह है कि जब तक निश्चित रूप से स्थापित न हो जाए कि इन दोनों प्राचीनतम ग्रन्थों में से कौन-सा ग्रन्थ प्राचीनतर है अर्थात् जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि अवेस्ता और ऋग्वेद में से किस ग्रन्थ की रचना पहले हुई तब तक यह कहना कठिन है कि किसकी भाषा अधिक प्राचीन है। पर यह तो जब अन्तिम रूप से सिद्ध होगा तब होगा, पर अभी तो यह स्पष्ट ही है कि अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में इतना अधिक ध्वनिसाम्य है कि उसे दोनों भाषाओं की तुलना का ठोस आधार बनाया जा सकता है।

न केवल अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में ही परस्पर ध्वनिसाम्य है, अपितु इन भाषाओं के भावी विकास में भी हमें आश्चर्यजनक ढंग से समान विकासक्रम के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार भारतीय भाषाओं का विकास प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में विभक्त किया जाता है, वैसे ही ईरानी भाषा के विकासक्रम को भी विद्वानों ने प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में विभक्त किया है। ईरानी भाषा के प्राचीन काल में उसी प्रकार अवेस्ता का विकास हुआ जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषा के विकास काल में संस्कृत का विकास हुआ। संस्कृत के दो रूप माने गए हैं-वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत, उसी प्रकार ईरानी के भी दो रूप माने गए हैं-अवेस्ता और पुरानी फारसी। अवेस्ता का समय अभी विवादास्पद है, पर पुरानी फारसी का समय चौथी शताब्दी ई.पू. का माना गया है। ईरान प्रसिद्ध सम्राट दारा प्रथम (521-485 ई.पू.) के कीलाक्षर इसी पुरानी फारसी में खुदे हैं। यही भाषा सम्भवतः इस राजवंश की राजभाषा भी थी। कुछ विद्वानों ने अवेस्ता और पुरानी फारसी को कालक्रम की दृष्टि से आगे पीछे मानने के बजाए क्रमशः पूर्वी ईरान और पश्चिमी ईरान की भाषा माना है और इसका भेद भौगोलिक आधार पर स्वीकार किया है। वैदिक संस्कृत के भी दो रूप माने गए हैं-पूर्ववैदिक काल की भाषा और उत्तरवैदिक काल की भाषा। यह मान लिया गया है कि ऋग्वेद के दूसरे से लेकर नौवें मण्डल की भाषा शेष वैदिक साहित्य की भाषा से अधिक प्रचीन है। दूसरी ओर प्राचीन अवेस्ता के भी दो रूप मान लिए गए हैं। अवेस्ता के अत्यन्त प्राचीन रूप को गाथा अवेस्ती कहा गया है जबकि उसके अपेक्षाकृत कम प्राचीन रूप को अवेस्ता कहा जाता है।

.मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाकाल के समान ईरानी भाषाओं का भी अपना एक मध्यकाल है। पालि, अनेक प्राकृत

भाषाओं और अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषाओं के मध्यकाल के रूप से माना जाता है। उसी प्रकार मध्यकालीन ईरानी को पहलवी कहा जाता है और इसका समय ईसा की तीसरी शताब्दी माना जाता है। इसी सदी में हुए ससान राजवंश के शिलालेखों में पहलवी भाषा सुरक्षित है। अवेस्ता की टीकाएं भी पहलवी भाषा में लिखी गई और धीरे-धीरे यस्न, बी स्पेरेद और लेन्दिदेद-इस प्रकार सम्पूर्ण वाङ्मय को मध्यकालीन ईरानी अर्थात् पहलवी में रूपान्तरित कर दिया गया। जिस तरह आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाकाल दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी से प्रारम्भ हुआ माना जाता है, ठीक उसी प्रकार आधुनिक ईरानी का समय भी नवीं सदी से माना गया है। जिस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का पश्चिम से पंजाबी से लेकर पूर्व में असमिया और नीचे मराठी तक अनेक रूपों में विकास हुआ, उसी प्रकार आधुनिक ईरानी का फारसी, उर्दू, अफगानी, पश्तो, बलूची, गलचा जैसी अनेक भाषाओं और बोलियों में विकास हुआ।

यद्यपि भारतीय आर्यभाषाओं और ईरानी भाषाओं के विकास क्रम में इतनी अधिक समानता है और अवेस्ता और वेदों की भाषाएं तो लगभग समान ही हैं तथापि यह एक आश्चर्य का विषय ही है कि आज से लगभग दो सौ-सवा दो सौ वर्ष पहले तक इस साम्य की ओर किसी का ध्यान तक नहीं गया। भारत में व्याकरण और भाषाई चिन्तन की एक लम्बी और वैज्ञानिक परम्परा के दर्शन होते हैं। पर जब भारत के प्राचीन और मध्यकालीन भाषाविदों ने संस्कृत के अध्ययन से ही मुक्ति नहीं पाई, यहाँ तक कि उन्होंने पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का अध्ययन भी संस्कृत को केन्द्र मानकर किया और सभी भारतीय भाषाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तो उनसे यह अपेक्षा करना कठिन ही था कि संस्कृत की समानधर्मा विदेशी भाषा अथवा भाषाओं का भी अध्ययन करते। फलस्वरूप, सहस्राब्दियों की समान भाषा-परम्परा की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया। 1754 ई. में पहली बार एक विदेशी का ध्यान इस भाषाई समानता की तरफ खिंचा जब आंकतील टपु पेरों नाम एक फ्राँसीसी ने विश्व को इसकी सूचना दी। समुद्री रास्ते से भारत पहुंचे इस महा-उत्साही विदेशी ने सूरत में रहकर वहाँ के पारसी पुरोहितों से इस भाषा का और इसकी लिपि का अध्ययन किया। फिर 1771 ई. में पहली बार उसने अवेस्ता का मूलपाठ और उसका अनुवाद प्रकाशित किया जिससे विश्व को इस बात का पता चला कि अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में अद्भुत समानता है।

फिर तो मानो अवेस्ता की भाषा के अध्ययन की एक परम्परा का ही सूत्रपात हो गया। यूरोप के विद्वान अवेस्ता भाषा के अध्ययन की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने लगे और वैदिक संस्कृत के साथ इसका सम्बन्ध अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। 1826 में डेन्मार्क के एक विद्वान् रास्क भारत और ईरान की यात्रा पर निकले। उन्होंने अवेस्ता का गहन अध्ययन किया। जब वह वापिस अपने देश की राजधानी कोपेन हेगेन गये तो अपने साथ अवेस्ता तथा पहलवी के ग्रन्थों की अनेक हस्तलिखित प्रतियां भी ले गये। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत और अवेस्ता के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित जानकारी दी। इसके बाद कुछ छोटे-बड़े अध्ययन इन सम्बन्धों को लेकर हुए। अन्ततः तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पितामह फ्रेन्स बॉप ने इन सभी अध्ययनों के आधार पर वैदिक संस्कृत और अवेस्ता का एक तुलनात्मक व्याकरण लिखा। फिर इस परम्परा में डार्मेस्टेटर, बॉर्थोलोभ, स्वीजल, हुब्शमान, जुस्ती, मिल्ज, गेल्डनर, जैक्सन ने इन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्ययन जैक्सन का था जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवेस्ता ग्रामर' में एक फार्मूला प्रस्तुत किया कि "प्रायः केवल कुछ ध्वनि नियमों का प्रयोग करके कोई भी संस्कृत शब्द अवेस्ता के पर्यायवाची शब्द में अथवा अवेस्ता शब्द संस्कृत में परिवर्तित किया जा सकता है।" इस निष्कर्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवेस्ता की भाषा और वैदिक संस्कृत में अर्थ और वाक्य की पूर्ण समानता है, केवल उनकी ध्वनियों में ही कुछ अन्तर पड़ा है।

इससे पूर्व कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता की ध्वनियों और पदरचना का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये, यहाँ अवेस्ता के कुछ अंशों को उद्धृत किया जा रहा है और उनका संस्कृत रूपान्तर देकर दोनों के मध्य घनिष्ठ समानता का एक चित्र खींचा जा रहा है। उदाहरण के तौर पर अवेस्ता के यस्न (यज्ञ) नौ का यह पहला मन्त्र और उसका संस्कृत रुपान्तर प्रस्तुत है :-

अवेस्ता- हावनीम् आ रतूम आ ह् ओमो उपारत् ज़रथुस्त्रेम
आत्रेम् पइरि य ओज़दथतेम् गाथाश्च स्त्रावयेन्तेम्
आ दिम् पुसत् जरथुस्त्रो को नर अही
यिम् अज़ेम् वीस्पेह अडह्मश अस्त्वतो सृए स्तेम्

दादरस

हवेहे गये है हवन्व तो अमप है।

संस्कृत- सावनीम् आ ऋतुम् आ सोमः उपैत् जरथुष्ट्रम्
अत्रिम् परियोदिधन्तम् गाथाश्च श्रावयन्तम्
आ तम् पृच्छत् जरथुष्ट्रः को नर असि

यमहं विश्वस्य असो अस्थन्वतः श्रेष्ठं ददर्श
स्वस्य गयस्य स्वन्वतो अमृतस्य ॥

इसी प्रकार दो मन्त्र और भी लिए जा सकते हैं-

अवेस्ता- यो यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् ह् ओमम् बन्दएता मश्यो ।
फ् आव्यो तनुब्यो ह् ओमो वीसरते व् एशजाइ ॥

संस्कृत- यो यथा पुत्रं तरुणम् सोमं वन्दते मर्त्यः ।
प्र आभ्यः तनुभ्यः सोमो विशते मेसजाय ॥

अवेस्ता- तम् अमवेन्तेम् यज़तेम् । सूरम् दामोहु ये वस्तेम् ।
मिथ्रम् यज़इ ह् ओथ् अद्ब्यो ॥

संस्कृत- तम् अमवन्तम् यजतम् । शूरं धामसु यविष्ठम् ।
मित्रं यजे होतृभ्यः ॥

इस प्रकार असंख्य मन्त्र उद्धृत किए जा सकते है जिनकी सहायता से यह स्थापित करना कठिन नहीं कि अर्थतत्व और वाक्यरचना की पूर्ण समानता के बीच अवेस्ता और वैदिक संस्कृत केवल ध्वनिपरिवर्तनों के कारण ही एक दूसरे से पृथक् भाषाएं मानी जाती है। अब इन दोनों भाषाओं की ध्वनियों और पदरचना आदि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

2. स्वर

संस्कृत में स्वरों की संख्या नौ है-अ,इ,उ,ऋ,लृ,ए,ऐ,ओ,औ। इनमें से प्रथम चार स्वरों के दीर्घ और प्लुत रूप मिलते हैं तथा अन्तिम चार के ह्रस्व रूप नहीं मिलते। लृ का प्रयोग बहुत विरल है। संस्कृत के समान अवेस्ता में भी यह सारी स्वर सम्पत्ति प्राप्त होती है। पर उनका रूप भी संस्कृत के समान ही हो, यह आवश्यक नहीं। वहां ह्रस्व स्वर और दीर्घ स्वरों का पारस्परिक विपर्यय होता ही रहता है। जैसे संस्कृत विश्वम्- अवेस्ता वीस्प्अम्, संस्कृत नाना-अवेस्ता नना। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में श्वा का प्रयोग मिलता है। इस स्वर का प्रयोग अ के ऊपर एक खड़ी रेखा के रूप में किया जायेगा जैसे-अ' ।ए और ओ स्वरों के कहीं-कहीं दुर्बल रुप भी मिल जाते हैं। इस सब के परिणामस्वरूप अवेस्ता की स्वर सम्पदा संस्कृत की अपेक्षा अधिक समृद्ध और मूल भारोपीय भाषा की स्वर संरचना के अधिक निकट मानी जाती है। संस्कृत और अवेस्ता के स्वरों की तुलना दो प्रकार से की जायेगी। पहले हम यह देखेंगे कि संस्कृत के स्वरों का अवेस्ता में क्या और कैसा रूपान्तरण मिलता है। फिर उन कुछ ध्वनिनियमों पर प्रकाश डाला जायेगा जिनकी सहायता से संस्कृत और अवेस्ता की ध्वनियों का पारस्परिक अध्ययन करने में सहायता मिल सकती है।

1. संस्कृत अ अवेस्ता में निम्न रूपों में मिलता है :-
   संस्कृत अ-अवेस्ता-अ = अश्वः-अस्पो; अश्मन्-अस्मन्
   संस्कृत अ-अवेस्ता-आ = ददर्श-दादरस
   संस्कृत अ-अवेस्ता-(श्वा) = सन्तम्-हेन्तेम्;- अहम्-अज़ेम
   संस्कृत अ-अवेस्ता-ओ = वसु-वोहु; मधु-मोदु
   संस्कृत अ-अवेस्ता-औ = धामसु-दामोहु, दामोहु
2. संस्कत आ अवेस्ता में निम्न रूपों में मिलता हैं-
   संस्कृत आ-अवेस्ता-आ = नाना-नाना; मातरः-मातरो
   संस्कृत आ-अवेस्ता-अ = नाना-नना
3. संस्कृत इ और उ अवेस्ता में इन्ही रूपों में प्राप्त हो जाते हैं। जैसे संस्कृत पिता = अवेस्ता पिता; संस्कृत विश्वम् = अवेस्ता विस्पेम्। संस्कृत असुरः = अवेस्ता अहुरो; संस्कृत वसु-अवेस्ता वोहु।
4. संस्कृत के दीर्घ ई और ऊ अवेस्ता में अनियमित रूपों में मिलते हैं। जैसे संस्कृत अनीकम् = अवेस्ता आइनीकेम्; संस्कृत ईशानम् = अवेस्ता इसानेम्। संस्कृत सूनवः = अवेस्ता हुनावो; संस्कृत भूमिम् = अवेस्ता बूमीम्।
5. संस्कृत ए और औ के अवेस्ता में निम्न रूप मिलते हैं-
   संस्कृत ए = अवेस्ता अई-एतत् = अइतत; वेद = व् अएद।
   संस्कृत ए = अवेस्ता ओइ-वेत्थ = व् ओइतता; ये = य्ओइ।
   संस्कृत ओ = अवेस्ता अ् ओ-ओजः = अ् ओजो; प्रोक्तः = फअ्ओह् तो।
   संस्कृत ओ = अवेस्ता अं ओ-वसोः = वृएह अं ओ।

6. संस्कृत ए और ओ के वृद्धि रूपों के बारे में अवेस्ता में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता।
7. संस्कृत ऋ अवेस्ता में अर् या अंर रूपों में मिलता है। जैसे संस्कृत कृणोति = अवेस्ता करेन् ओति, पर संस्कृत मृत्युः - अवेस्ता मअंर अंथ्युस्।

इन स्वरों की तुलना करने के बाद हम कुछ सामान्य ध्वनिनियमों का विवेचन करते है जिनकी सहायता से संस्कृत और अवेस्ता के शब्दों का पारस्परिक रूपान्तरण बहुत ही सुविधापूर्वक किया जा सकता है-

1. संस्कृत पदों के अन्तिम म् से पूर्व आने वाला ह्रस्व इ और ह्रस्व उ अवेस्ता में अनिवार्य रूप से दीर्घ हो जाता है। जैसे संस्कृत पतिम् = अवेस्ता पतीम्; संस्कृत धासिम् = अवेस्ता दाहीम्; संस्कृत पितुम् = अवेस्ता पितूम्।
2. संस्कृत एकाक्षर निपात का अन्तिम ह्रस्व स्वर अवेस्ता में अनिवार्यतः दीर्घ हो जाता है जैसे-संस्कृत नु = अवेस्ता नू; संस्कृत हि = अवेस्ता जी; संस्कृत प्र = अवेस्ता फ्रआ।
3. कई बार अनेकाक्षरसंस्कृत पदों के अन्तिम स्वर, ओ को छोड़कर, अवेस्ता में ह्रस्व हो जाते हैं। जैसे-संस्कृत सेना = अवेस्ता हएन; पिता = अवेस्ता पित, पिता; संस्कृत नारी = अवेस्ता नआइरि।
4. संस्कृत के सभी अन्त्य स्वर गाथा अवेस्ती (गा. अवे.)में दीर्घ हो जाते हैं। जैसे संस्कृत असुर = गा. अवे. अहुरा; संस्कृत उत = गा.अवे-उता; संस्कृत असि = गा. अवे-अही; संस्कृत येषु = गा. अवे. य् एसू।
5. अपनिहित–इसे अवेस्ता एवं संस्कृत के स्वरों की तुलना-प्रक्रिया में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेपता माना जा सकता है। इस नियम का तात्पर्य यह है कि संस्कृत के उन पदों में जिनके अन्त में ह्रस्व इ या उ का प्रयोग होता है उससे पहले आने वाले ह्रस्व अ का अवेस्ता में क्रमशः अइ और अउ रूपान्तरण हो जाता है। जैसे-संस्कृत भवति = अवेस्ता बव्अइति; संस्कृत पतति = अवेस्ता पत्अइति; संस्कृत धावतु = अवेस्ता द्आव्अउतु; संस्कृत पततु = अवेस्ता पत्अउतु। इस नियम का विस्तार कई बार इस विशिष्ट स्थिति को छोड़कर सामान्य रूपों में भी हो जाता है। अर्थात् संस्कृत पदों में इ और उ से पूर्व आने वाला ह्रस्व अ प्रायः अवेस्ता में क्रमशः अइ और अउ में बदल जाता है। जैसे-संस्कृत तरुणम् = अवेस्ता त्अर्उनेम्; संस्कृत अरुषः = अइ अउसो; संस्कृत गामितम् = अवेस्ता ग्अइमितेम्।
6. स्वरभक्ति–इस ध्वनि प्रवृत्ति का अर्थ है–स्वर विशेष की सहायता से संयुक्त व्यंजन का उच्चारण करना अर्थात् संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण सरल बनाने के लिए उनके मध्य में किसी स्वर को रख देना। जैसे-स्कूल = सकूल। संस्कृत के वे पद जहाँ संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग किया जाता है और उस संयोग में एक व्यञ्जन आवश्यक रूप से स्पर्श है तो उसका अवेस्ता में रूपान्तरण करते समय मध्य में अ अथवा अं का प्रयोग कर दिया जाता है।

   जैसे संस्कृत वक्रम् = अवेस्ता वह् अंद्रम्; संस्कृत स्वर्गः = अवेस्ता हव्अर्अगो; संस्कृत नप्तृ = अवेस्ता नफ अंद्रत्।
7. आदि निहित–इस ध्वनि प्रवृत्ति का अर्थ है किसी स्वर को पद के प्रारम्भ में स्थापित कर देना। संस्कृत के वे पद जिनमें र् के बाद इ अथवा उ का प्रयोग किया जाता है, अवेस्ता में उन पदों से पूर्व क्रमशः इ और उ की आदि निहित कर दी जाती है। जैसे-संस्कृत रिणक्ति = अवेस्ता इरिणहति; संस्कृत रिष्यति = अवेस्ता इरिस्येति; संस्कृत रोपयति = अवेस्ता उरोपयेति।

इस स्वर तुलना से स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता के स्वरों में कोई विशेष अन्तर नहीं है तथा निश्चित ध्वनिप्रवृत्तियों और ध्वनिनियमों की सहायता से उनमें पारस्परिक भाषाविनिमय बड़ी ही सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

3. व्यञ्जन

जहाँ स्वरों की दृष्टि से अवेस्ता की भाषा संस्कृत से कुछ अधिक समृद्ध है, वहाँ व्यञ्जनों की दृष्टि से वैदिक संस्कृत को अवेस्ता की अपेक्षा अधिक समृद्ध माना जा सकता है। वैसे तो एक अतिरिक्त श्वा (अ) स्वर की अपेक्षा अवेस्ता और संस्कत के स्वरों की संख्या समान ही है, परन्तु संस्कृत के स्वरों के इतने अधिक रूपान्तर अवेस्ता में प्राप्त होते हैं कि अवेस्ता की समृद्धि स्वतः सिद्ध सी प्रतीत होती है। परन्तु व्यञ्जनों की दृष्टि से अवेस्ता को निश्चित रूप से कम महत्व दिया जाना चाहिए। संस्कृत के अनेक व्यञ्जन वर्णों का अवेस्ता में नितान्त अभाव है और कुछ व्यञ्जनों के एक से अधिक रूपान्तर प्राप्त होते हैं।

संस्कृत के व्यञ्जनों को मुख्य रुप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है-

1. स्पर्श-क् से लेकर म् तक = 25 व्यञ्जन वर्ण; 2. अन्तःस्थ = य् व् र् ल् = 4 व्यञ्जन वर्ण; और 3. ऊष्म = श् ष् स् ह् = चार व्यञ्जन वर्ण। यदि हम वर्ग के पांचवे वर्णों अर्थात् अनुनासिकों का एक पृथक् वर्ग मान लें तो संस्कृत के कुल चार व्यञ्जन वर्ग भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार कितने भी वर्ग स्वीकार कर लें व्यञ्जनों की कुल संख्या तैंतीस मानी गई है। इनका विभाजन कहीं उच्चारणस्थान के आधार पर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि से जोड़कर किया जाता है तो कहीं उच्चारण प्रयत्न के आधार पर अघोप, सघोप, अनुनासिक, अल्पप्राण, महाप्राण आदि के रूप में किया जाता है।

इनका विभाजन कहीं उच्चारणस्थान के आधार पर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि से जोड़कर किया जाता है तो कहीं उच्चारण प्रयत्न के आधार पर अघोष, सघोष, अनुनासिक, अल्पप्राण, महाप्राण आदि के रूप में किया जाता है।

अवेस्ता की भाषा में इतने अधिक व्यञ्जन और व्यञ्जन वर्ग नहीं हैं। इसका पूरा निदर्शन संस्कृत व्यञ्जनों के साथ तुलना के रूप में ही सामने आ सकता है। अवेस्ता और वैदिक संस्कृत के व्यञ्जनों की तुलना करने से हमें निम्नलिखित विशेषताओं से परिचय प्राप्त होता है-

1. संस्कृत के अघोष महाप्राण अर्थात् ख् छ् ठ् थ् फ् अवेस्ता में प्राप्त नहीं होते। इनमें से थ् और फ् का संघर्षी रूप अर्थात् थ् और फ् कहीं कहीं मिल जाते है।
2. संस्कृत के सघोष महाप्राण अर्थात् घ् झ् द् ध् भ् का अवेस्ता में नितान्त अभाव है।
3. संस्कृत के तीन अनुनासिक अर्थात् ङ् ञ् और ण् का उच्चारण अवेस्ता की भाषा में नहीं मिलता।
4. संस्कत के टवर्ग का अवेस्ता में प्रयोग नहीं मिलता।
5. वास्तव में अवेस्ता की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का ही अभाव है। इसलिए ऋ का प्रयोग भी, जैसा कि हम इसी पाठ में ऊपर देख आए है अवेस्ता में अर या अॅर के रूप में मिलता है। इसी प्रकार मूर्धन्य ष् का भी अभाव है।

इस प्रकार संस्कृत के तैंतीस व्यञ्जन वर्णों में से चौदह की प्राप्ति अवेस्ता में नहीं होती। शेष उन्नीस वर्ण अवेस्ता में किस रूप में मिलते है इसकी तुलना करने से पूर्व यह जान लेना जरुरी है कि अवेस्ता में फ़् और ज़ ऐसे व्यञ्जन हैं जिनका संस्कृत में अभाव है। इनकी और अवेस्ता के उपलब्ध अन्य व्यञ्जनों की संस्कृत के साथ तुलना किस प्रकार हो सकती है, इसके लिए निम्नलिखित तुलनात्मक चार्ट प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. संस्कृत क् अवेस्ता में क् ही मिलता है। जैसे-संस्कृत = करोति, अवेस्ता = क्अरअओति, संस्कृत = कम्, अवेस्ता = कअम्। पर कुछ उदारणों में संस्कृत क् अवेस्ता में ह् बन जाता है। जैसे-संस्कृत = क्रतु: अवेस्ता = हरतुस् संस्कृत = वक्त्र, अवेस्ता वह् अॅद्र। पर ऐसा परिवर्तन प्राय: वहाँ होता है जहाँ संस्कृत क् का प्रयोग संयुक्त व्यञ्जन के रूप में किया गया हो।
2. संस्कृत ख् अवेस्ता में ह् बन जाता है। जैसे- संस्कृत = सखा, अवेस्ता = हह्; संस्कृत खा, अवेस्ता = ह् अओ।
3. संस्कृत ग् अवेस्ता में ग् ही रह गया है। जैसे- संस्कृत = गौ; अवेस्ता = ग्आओ; संस्कृत = गमयति, अवेस्ता = ग्अॅम्-अय्अॅति।
4. संस्कृत च् अवेस्ता में च् ही मिलता है। जैसे- संस्कृत = चरति, अवेस्ता = चर्अइति; संस्कृत = चक्र; अवेस्ता = चक्अर।
5. संस्कृत ज् अवेस्ता में ज् के रूप में ही मिलता है। जैसे-संस्कृत = ओजस्, अवेस्ता = अउज्ओ, संस्कृत = जीवन्तम्, अवेस्ता = जीवमेन्त्अॅम्। पर कहीं ज़् भी है। जैसे- संस्कृत = यजते, अवेस्ता = यज़्अएति।
6. संस्कृत ट् अवेस्ता में अविनाभाव से त् बन जाता है। जैसे -संस्कृत = उष्ट्रम, अवेस्ता = उस्त्रअॅम्।
7. संस्कृत त् अवेस्ता में प्राय: त् ही रहता है। जैसे-संस्कृत = हन्तारम्, अवेस्ता = जन्तार्अॅर्म्, संस्कृत = पचति, अवेस्ता = पच्अइति। परन्तु कुछ उदाहरणों में वह थ् बन जाता है। जैसे- संस्कृत = पुत्र:, अवेस्ता = पुथ्रो, संस्कृत = सत्य, अवेस्ता = हअ-इथ्यो।
8. संस्कृत द् अवेस्ता में द् ही रहता है। जैसे-संस्कृत वेद: = अवेस्ता व्अएदो, संस्कृत ददर्श = अवेस्ता दादरस।
9. संस्कृत ध् अवेस्ता में द् बन जाता है। जेसे- संस्कृत धाता = अवेस्ता दाता; संस्कृत धामसु = अवेस्ता दामोहु; संस्कृत मधु = अवेस्ता मोदु। संस्कृत अध: = अवेस्ता आदो। संस्कृत सिन्धु = अवेस्ता = हिन्दु।
10. संस्कृत प् अवेस्ता में प् ही रहता है। जैसे संस्कृत पति:= अवेस्ता पोतिस; संस्कृत पतति = अवेस्ता पत्अइति। पर कहीं कहीं उसका रूपान्तर फ् में भी हो जाता है। जैसे संस्कृत सप्त अवेस्ता हफ्त या हफ्थ।
11. संस्कृत फ् अवेस्ता में फ़् बन जाता है। जैसे- संस्कृत कफम् = अवेस्ता कफ़्अॅम्? संस्कृत शफस:= अवेस्ता सफ़्अएसो।
12. संस्कृत ब् अवेस्ता में ब् ही रहता है। जैसे संस्कृत उपब्द = अवेस्ता उप्अब्द; संस्कृत बलम् = अवेस्ता बल्अॅम्।
13. संस्कृत भ् अवेस्ता में अविनाभाव से ब् हो जाता है। जैसे संस्कृत भ्राता = अवेस्ता ब्र्आता; संस्कृत अभि = अवेस्ता अबी; संस्कृत भानु = अवेस्ता ब् आनु।
14. संस्कृत न् और म् अवेस्ता में इन्हीं रूपों में मिलते हैं। जैसे-संस्कृत हन्तारम् = अवेस्ता जन्तार्अॅम् संस्कृत तनु:= अवेस्ता त्अनुस् या त्ओनुस्, संस्कृत मातर् = अवेस्ता म्आतअॅरो। संस्कृत-नाम = अवेस्ता- नाम।
15. संस्कृत य् का उच्चारण अवेस्ता में य् ही है। जैसे संस्कृत असुरस्य = अवेस्ता अहुरह् यो; संस्कृत य:= अवेस्ता यो।
16. संस्कृत र् और ल् अवेस्ता में र् और ल् रूपों में ही मिलते है। जैसे-संस्कृत असुर:= अवेस्ता अहुरो; संस्कृत नर:= अवेस्ता नरो; संस्कृत वस्त्रम् = अवेस्ता वस्त्रअॅम्।

17. संस्कृत व् अवेस्ता में कहीं व् तो कहीं प् के रूप में मिलता है। जैसे संस्कृत वस्त्रम् = अवेस्ता वस्त्रअ्म्; संस्कृत विश्वम् = अवेस्ता वीस्प्अ्म्; संस्कृत अश्वः = अवेस्ता अस्पो; संस्कृत श्वेतम् = अवेस्ता स्प्अएत्अ्म्।
18. संस्कृत श् अवेस्ता मे प्रायः स् बन जाता है। जैसे-संस्कृत विश्वम् = अवेस्ता वीस्प्अ्म्; संस्कृत अश्वः = अवेस्ता अस्पो।
19. संस्कृत ष् अवेस्ता में स् और श् इन दो रूपों में मिल जाता है। जैसे-संस्कृत इषवः = अवेस्ता इस्आवो; संस्कृत उष्ट्रः = अवेस्ता उस्त्रओ, या उश्त्रो।
20. संस्कृत स् का अवेस्ता में कहीं स् ही मिलता है पर प्रायः ह् हो जाता है। जैसे- संस्कृत स्कम्भम् = अवेस्ता स्कअ्म्ब्अ्म्; संस्कृत स्तोतारम् अवेस्ता स्त्ओतार्अ्म्। पर संस्कृत सप्त = अवेस्ता हफ्त; सस्कृत असुरः = अवेस्ता अहुरो; संस्कृत नमसि = अवेस्ता न्अ्मही; संस्कृत सोमः = अवेस्ता ह्ओमओ।
21. संस्कृत ह् के भी अवेस्ता में दो रूप मिलते हैं। कहीं यह ह् ही रहता है तो कहीं यह ज् बन जाता है। जैसे-संस्कृत अहि = अवेस्ता अही, पर संस्कृत हन्तारम् = अवेस्ता जन्तार्अ्म्; संस्कृत अहति = अवेस्ता अर्अ्ज्अइति; संस्कृत दुहम् = अवेस्ता दुजिम्। कई रूपों में संस्कृत ह् अवेस्ता में ज़ बन जाता है। जैसे-संस्कृत अहम् = अवेस्ता अज़्अ्म् संस्कृत हस्त = अवेस्ता ज़स्त।

संस्कृत और अवेस्ता के व्यञ्जनों की तुलना से अन्य उपरिलिखित बातों के अतिरिक्त एक यह तत्व उभर कर सामने आता है कि अवेस्ता में ह् का प्रयोग बहुत अधिक है। अनेक प्रावधान ऐसे हैं जिनके परिणामस्वरूप अवेस्ता में ह् का प्रयोग हो जाता है। इसके अतिरिक्ति एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत का विसर्जनीय अवेस्ता में अविनाभाव से ओ बन जाता है। ये दो विशेषताएँ अवेस्ता की उपलब्ध वर्ण संरचना को मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की समकक्ष बना देती हैं।

4. शब्दरूपरचना

संस्कृत और अवेस्ता की स्वरध्वनियों और व्यञ्जन ध्वनियों की इस तुलना के बाद इन दोनों भाषाओं की रूपरचना के तुलानात्मक अध्ययन में कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती। इसका कारण यह है कि संस्कृत अवेस्ता की रूपरचना के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय लगभग समान हैं, जिनका एक दूसरे में रूपान्तरण हम उपर्युक्त ध्वनिनियमों, ध्वनिविपर्ययों और ध्वनिरूपान्तरणों की सहायता से कर सकते हैं। इस दृष्टि से पहले शब्दरूपरचना का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं।

शब्दरूपरचना की दृष्टि से अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में लगभग पूर्ण समानता है। अवेस्ता शब्दरूपरचना का विभाजन सात विभक्तियों, तीन वचनों और तीन लिंगों में होता है। इसके अतिरिक्त सम्बोधन का प्रयोग भी अवेस्ता में है। शब्दों के अजन्त और हलन्त रूप लगभग समान हैं, अन्तर केवल ध्वनिपरिवर्तनों का ही है। इस पृष्ठभूमि में यज्ञ शब्द के सातों विभक्तियों के एकवचन के रूपों की तुलना यहाँ प्रस्तुत की जा रही है-

	संस्कृत	**अवेस्ता**
प्रथमा	यज्ञः	यस्नो
द्वितीया	यज्ञम्	यस्न्अ्म्
तृतीया	यज्ञेन यज्ञा	यस्ना
चतुर्थी	यज्ञाय	यस्न्आइ
पंचमी	यज्ञात्	यस्नत्
षष्ठी	यज्ञस्य	यस्नहे
सप्तमी	यज्ञे	यस्न

इस तुलना से यह स्पष्ट है कि न केवल विभक्तियों और वर्णो में समानता है अपितु विभक्तिप्रत्ययों में भी पूर्ण समानता है। अन्तर केवल उतना ही है जिसे ध्वनिपरिवर्तनों की सहायता से समझा जा सकता है।

5. धातुरूपरचना

इस पृष्ठभूमि में यह समझना कठिन नहीं है कि जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं में शब्दरूपरचना में लगभग समानता है वही स्थिति धातुरूपों की रचना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भाव, काल-इन दोनों दृष्टियों से दोनों भाषाएँ एक समान हैं। वैदिकसंस्कृत के समान अवेस्ता में भी लेट् लकार प्राप्त होता है। दोनों भाषाओं में कर्तृवाच्य और भाववाच्य के रूप समान रूप से प्राप्त होते हैं। आत्मनेपद, परस्मैपद, उभयपद की भी आपसी समानता है। दोनों ही भाषाओं के धातुरूपों में तीन पुरुषों और तीन वचनों की रचना समान रूप से मिलती है। उदाहरण के तौर पर हम इन दोनों भाषाओं के भू (भव) धातु के

वर्तमान काल के रूपों की तुलना कर सकते हैं।

भू

	संस्कृत एक वचन	संस्कृत द्विवचन	संस्कृत बहुवचन
प्रथम पुरुष	भवति	भवतः	भवन्ति
मध्यम पुरुष	भवसि	भवथः	भवथ
उत्तम पुरुष	भवामि	भवावः	भवामः

इसके रूप अवेस्ता में इस प्रकार हैं-

प्रथम पुरुष	बव्अइति	बव्अतो	बव्अइन्ति
मध्यम पुरूष	बव्अइसि	बव्अथो	बवथ
उत्तम पुरुष	बवामि	बवावो	बवमो

वैदिक संस्कृत के समान ही अवेस्ता में भी धातुओं के दो रूप हैं- विकरणयुक्त (Thematic) और विकरणहीन (non-Thematic)। इस आधार पर अवेस्ता में गणविभाजन लगभग वैसा है जैसा संस्कृत में है। इसलिए अवेस्ता में वैदिक संस्कृत के समान अदादिगण, जुहोत्यादिगण, और चुरादिगण भी मिल जाते है। शेष विकरणयुक्त गण (अ, य्, नु, ना, उ विकरण वाले गण भी) यथावत् मिल जाते हैं। इन सबमें केवल ध्वनि परिवर्तनों को समझने की आवश्यकता है।

6. प्रत्यय

भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया में यह स्वीकार किया जाता है कि किसी भी भाषा में शब्दभण्डार को उसके मौलिक अध्ययन का आधार नहीं माना जाता क्योंकि कई प्रकार के बाह्य और आन्तरिक प्रभावों के परिणामस्वरूप शब्दभण्डार में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहता है। परन्तु भाषा की प्रत्ययरचना और वाक्यरचना- ये दो ऐसे मौलिक तत्व हैं जिन पर बाह्य प्रभाव बहुत कम पड़ता है और जिनमें परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत धीमी रहती है। इसलिए भाषाओं के वर्गीकरण में इन दोनों तत्वों का बहुत अधिक महत्व है।

प्रत्ययरचना की दृष्टि से भी देखा जाए तो वैदिक संस्कृत और अवेस्ता में पूर्ण समानता दृष्टिगोचर होती है। वैदिक संस्कृत की तरह अवेस्ता में भी विशेषणवाची प्रत्यय समान हैं। जिस प्रकार संस्कृत में तर-तम और ईयस्-इष्ठ का प्रयोग होता है, सामान्य ध्वनिपरिवर्तनों के साथ यही प्रत्यय अवेस्ता में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे-

संस्कृत	अवेस्ता
बलवन्त्	अमवन्त
बलवत्तर	अमवत्तर
बलवत्तम	अमवस्त्अम
इसी प्रकार-	
वसु	वोहु
वस्य	वह्यह्
वसिष्ठ	वसिश्त

इन प्रत्ययों से युक्त शब्दों की रूपरचना में भी पूर्ण समानता के दर्शन होते हैं।

7. सर्वनाम

जहाँ तक सर्वनामों का प्रश्न है उनमें से अधिकांश वैदिक संस्कृत के सर्वनामों से मिलते हैं। कुछ तुलनात्मक सर्वनाम प्रस्तुत है।

संस्कृत	अवेस्ता
अहम्	अज़्अम्
त्वम्	तुम्, तु

सः	हो
तम्	त्अम्
यः	यो
यम्	यिम्
यस्मै	यह्म्आइ
यस्मात्	यह्मात्

इन सर्वनामों के रूपों की रचना में भी संस्कृत और अवेस्ता में पूर्ण समानता है। चूंकि विभक्ति प्रत्यय दोनों भाषाओं में समान हैं इसलिए कुछ सामान्य ध्वनिपरिवर्तनों के साथ इनकी रूपरचना में समानता होना स्वाभाविक है।

8. संख्यावाची शब्द

वैदिक संस्कृत और अवेस्ता की समानताओं के इस महत्वपूर्ण विवेचन के अन्त में यह कहने में भी कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इन दोनों भाषाओं के संख्यावाची शब्द भी समान हैं। अन्तर केवल सामान्य ध्वनिपरिवर्तनों का है। निम्नलिखित तालिका से यह समानता स्पष्ट देखी जा सकती है-

संस्कृत	अवेस्ता
एकः	अएके
द्वौ	द्वा
त्रि	थ्रि, थ्रि
चत्वारः	चथ्वारो
पञ्च	पञ्च
षट्	हश्वश्
सप्त	हप्त, हफ्त
अष्टौ	अश्ता
नव	नव
दश	दस, दह, इत्यादि।

पाठ- 12

संस्कृत और पालि भाषा

भारतीय आर्य का मध्यकाल-'पालि' भाषा का नामकरण 'पालि' भाषा का स्थान-'पालि' भाषा का सामान्य **स्वरूप**- संस्कृत और पालि स्वर- संस्कृत और पालि व्यंजन-संस्कृत और पालि रूप रचना।

1. भारतीय आर्यभाषा का मध्यकाल

भारोपीय भाषा की भारत ईरानी शाखा की दो उप शाखाएँ इस भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित हुई। यदि आर्यों को मध्य एशिया का मूल निवासी मान लिया जाए, जो विवादास्पद होता हुआ भी अधिकांश विद्वानों द्वारा अभी माना जाता है, तो कहना होगा कि मध्य एशिया से चल कर आगे बढ़ने वाले घुमन्तू आर्यों का पहला पड़ाव उस स्थान पर हुआ जिसे ईरान कहा जाता है। वहाँ से जब ईरानी आर्यों का एक दल पूर्व की ओर आगे बढ़ा तो उसने उस क्षेत्र में आकर डेरा डाला जिसे प्राचीन काल में 'सप्तसिन्धु' प्रदेश का नाम दिया गया और जो क्षेत्र आजकल सम्पूर्ण पाकिस्तान और वर्तमान भारतीय पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश तक फैला हुआ है। कतिपय भारतीय विद्वान इसी सप्तसिन्धु प्रदेश को आर्यों का मूल अथवा आदि स्थान मानते हैं और यहीं से इनके एक दल का पश्चिम में ईरान और मध्य एशिया की तरफ और दूसरे दल का पूर्व में आज के असम तक फैला होना सिद्ध करते हैं वास्तव में भाषाई सच्चाइयों के अधिक निकट होता हुआ भी भारतीय विद्वानों का यह मत अभी सर्वस्वीकृति के लिए समय की प्रतीक्षा कर रहा है।

सप्तसिन्धु प्रदेश में आकर बसने वाले आर्य कुछ समय उसी भाषा का प्रयोग करते रहे जिसे वे अपने पुराने निवास स्थान कहे जाने वाले ईरान में प्रयोग में लाते थे और जिसे आधुनिक भाषा वैज्ञानिक मूल भारोपीय भाषा की भारत-ईरानी शाखा कहना चाहते हैं। परन्तु इस शाखा का ईरान और सप्तसिन्धु में एक ही रूप में लम्बे समय चलते रहना सम्भव नहीं था क्योंकि दोनों स्थानों के जलवायु, समाज एवं अर्थव्यवस्था की अलग-अलग परिस्थितियों ने इन दोनों स्थानों पर उनके स्वतन्त्र विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह स्वाभाविक ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि ईरान में ईरानी भाषा का विकास हुआ जो गाथा अवेस्ती, अवेस्ता, पहलवी की यात्रा पूरी करती हुई आधुनिक ईरानी की विभिन्न बोलियों तक पहुंची वहाँ दूसरी ओर भारत में भारतीय आर्यभाषा का विकास हुआ।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने भारतीय आर्यभाषा के विकास की तीन अवस्थाएँ स्वीकार की हैं। इन तीन अवस्थाओं के नाम क्रमशः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल के नाम से माने जाते हैं। इन तीनों कालखण्डों में एक ही मूल भारतीय आर्यभाषा का विभिन्न रूप-रूपान्तरों बोलियों, भाषाओं और साहित्यिक मानक भाषाओं में विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल में मुख्य रूप से संस्कृत भाषा का विकास हुआ। संस्कृत के विकास की दो अवस्थाएं मानी गई हैं-वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। इनमें से वैदिक संस्कृत का एक और अधिक प्राचीनतर रूप माना गया है जिसे बाल गंगाधर तिलक ने प्राचीन आर्यों की भाषा माना है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा–काल के तीन उपविभाजन किए गये हैं-पालि उपकाल, प्राकृत उपकाल और अपभ्रंश उपकाल। इस काल में पालि, अभिलेखीय प्राकृत, पैशाची, महाराष्ट्री, शौरसनी, मागध एवं अपभ्रंश सदृश अनेक भाषाओं का विकास हुआ। तीसरा और अन्तिम काल आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का है। आज की सिन्धी, पंजाबी, डोगरी, कश्मीरी, हिन्दी, बंगला, असमिया, उड़िया, मराठी, गुजराती, और राजस्थानी इसी काल की प्रमुख भाषाएं मानी जाती हैं।

इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के बाद यह समझना कठिन नहीं कि हमारा समबन्ध इस समय मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के साथ है। इस पाठ में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में से पालि का विशिष्ट अध्ययन और संस्कृत के साथ उसकी तुलना की जायेगी। उससे पहले इसका काल निर्धारण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उसी आधार पर पालि का उचित काल भी निश्चित किया जा सकेगा।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाकाल के सम्बन्ध में भी दो अलग-अलग मत हैं जिनमें परस्पर विवाद की अभी तक भी समाप्ति नहीं हुई है। पहला मत उन भारतीय विद्वानों का है जो संस्कृत और मध्यकालीन आर्यभाषा को बहुत ही अधिक प्राचीन सिद्ध करते हैं। इस मत के अनुसार संस्कृत अपने समय में बोलचाल की भाषा थी जिसके प्रमाण यास्क के निरुक्त और पाणिनि की अष्टाध्यायी में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। वैसे भी युधिष्ठिर भीमांसक जैसे विद्वान पाणिनि का काल 2900 ई.पू. मानते हैं और यास्क को उससे भी पहले का सिद्ध करते हैं। पर भारतीय विद्वानों ने सामान्य रूप से अभी तक भी भारतीय भाषाओं के इतिहास को निश्चित काल खण्डों की परिधि में प्रतिष्ठित नहीं किया है। उनकी इस स्थापना से सहमति नहीं है कि मध्यकालीन भारतीय

आर्यभाषा काल को पाँचवी सदी ई.पू. से प्रारम्भ माना जाये। वस्तुतः वे इसे और भी अधिक पीछे ले जाने के पक्ष में हैं। कहना पड़ेगा कि भारतीय विद्वानों का भाषाई शोध अभी अनुसन्धान की प्रक्रिया में है और वे निश्चित निष्कर्षों की स्थापना करने की अवस्था से अभी दूर है।

इसके विपरीत पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ताओं और इनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के तीन निश्चित उपखण्ड किए हैं और उनका काल निर्धारण भी कर दिया है जो इस प्रकार है :-

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाकाल = 500 ई.पू. -1000 ई.

1. पालि उपकाल= 500 ई.पू. से ईस्वी सदी का प्रारम्भ।
2. प्राकृत उपकाल= ईस्वी सदी के प्रारम्भ से 500 ई.।
3. अपभ्रंश उपकाल= 500 ई. से 1000 ई. तक।

ईसा की ग्यारहवी सदी से इन विद्वानों ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का काल स्वीकार किया है।

इस काल विभाजन के विरुद्ध कई प्रकार के तर्क दिये जाते हैं। पहला तर्क यह है कि भाषाओं के उद्भव और विकास के तथा उसका प्रयोग बन्द हो जाने के वर्ष को या यहाँ तक कि दशाब्दी या शताब्दी को निश्चित नहीं किया जा सकता। भाषाओं के उद्भव का तो कभी ज्ञान ही नहीं हो पाता और उनका विकास और ह्रास इतनी मन्थर प्रक्रिया है कि उसके लिए सदियों की आवश्यकता होती है। इसलिए यह बड़ा ही विचित्र लगता है कि भाषाओं के काल को इतनी सटीक काल-श्रृंखलाओं में बाँध दिया जाये।

इस काल विभाजन के विरुद्ध दूसरा तर्क यह है कि इसमें भाषाई और ऐतिहासिक साक्ष्य को आधार न बनाकर गणितीय कल्पना का आश्रय ही अधिक लिया गया है जिस तरह से पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को पांच-पांच सौ वर्षों के विभाजन में बांध कर रख दिया गया है वह शोध और तर्क पर आधारित भाषाई निष्कर्ष के स्थान पर सुखद और पूर्वनिर्धारित कल्पना ही अधिक प्रतीत होती है।

तीसरा तर्क भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल को 500 ई.पू. से प्रारम्भ करने की धारणा के विषय में है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का प्रारम्भ, अर्थात् पालि का प्रारम्भ 500 ई.पू. में इसलिए माना जाता है क्योंकि उस समय महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने धार्मिक उपदेश पालि और संस्कृत में दिये। चूंकि महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश संस्कृत भाषा में न देकर उस समय की जनभाषा में, जिसे हम आज की पालि कहते हैं, दिए हैं और उनका समय 563 ई.पू. माना गया है, इसलिए पालि का समय भी उसके आस-पास का मान लिया गया है। परन्तु इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि यदि महात्मा बुद्ध ने यह सोचकर पालि में अपना धर्मोपदेश किया कि पालि उस समय की जनभाषा थी तो क्या हमें पालि का समय महात्मा बुद्ध से कुछ शताब्दी पूर्व प्रारम्भ हुआ नहीं मानना चाहिये? यह मानना कि महात्मा बुद्ध ने उस समय की जनभाषा पालि में अपने धर्म का उपदेश किया और साथ ही पालि का प्रारम्भकाल भी उनके जन्म के आस-पास मान लेना भाषाई दृष्टि से पूरी तरह से अवैज्ञानिक ही माना जायेगा। प्रत्येक भाषा के प्रारम्भ होने, उसके विकसित होने और उसका ह्रास होने में एक लम्बा समय लग जाता है। इसलिए यदि महात्मा बुद्ध ने पालि को उस समय की जनभाषा मानकर अपने उपदेश उस भाषा में दिये तो इसका एक ही अर्थ है कि पालि उस समय एक पूर्ण अथवा पर्याप्त विकसित भाषा थी। इसलिए उसके प्रारम्भ को महात्मा बुद्ध से कम से कम चार-पांच सदी पूर्व मानना पड़ेगा। इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में पालि के प्रारम्भ, विकास और ह्रास को केवल पांच सदियों की सीमित कालावधि में बांध देना पालिभाषा और भाषा विज्ञान इन दोनों के साथ ही अन्याय करने के समान है।

इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल की काल गणना के सम्बन्ध में ही मतभेद नहीं है, विद्वानों में इस बात पर भी तीव्र मतभेद है कि क्या मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का पालि, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन उपकाल में विभाजन वैज्ञानिक है या नहीं। इस सम्बन्ध में मतभेद का विषय यह है कि सम्पूर्ण काल को एक ही काल क्यों न मान लिया जाय। जो विद्वान इस काल को तीन उपकालों में बांटते हैं उनका मत है कि इस काल में सबसे पहले पालि का विकास हुआ, फिर प्राकृतों का विकास हुआ और सबसे अन्त में अपभ्रंश का विकास हुआ। परन्तु जो विद्वान इस मत से सहमत नहीं है और मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के इस क्रमिक विकास को वैज्ञानिक नहीं मानते हैं उनके अपने तर्क विभिन्न हैं।

इस वर्ग के विद्वानों का पहला तर्क यह है कि हम पालि को अन्य मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की अपेक्षा इस लिये प्राचीनतर मानते हैं क्योंकि महात्मा बुद्ध के उपदेश इसी भाषा में संगृहीत हैं। इस प्रकार हमें पालि में इतने पुराने ऐतिहासिक और लिखित सन्दर्भ मिल जाते हैं जबकि प्राकृत और अपभ्रंश के इतने पुराने सन्दर्भ प्राप्त नहीं होते। परन्तु इस विषय में दो समस्याएँ आती हैं। पहली समस्या यह है कि महात्मा बुद्ध से भी चालीस वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के विषय में ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपने उपदेश पालि में नहीं अपितु प्राकृत में दिये थे। जैन परम्परा प्राकृत के इस रूप को अर्धमागधी अथवा आर्ष कहती है। महावीर स्वामी के अनुयायियों का विश्वास है कि जब भगवान अर्धमगधी में अपने उपदेश दिया करते थे तो उस समय केवल मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी मन्त्र मुग्ध होकर उन उपदेशों को सुना करते थे। इस समस्या का समाधान तभी

हो सकता है जब काल की दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत और पालि को समकालीन माना जाये।

इस सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह है कि ईस्वी सन् प्रारम्भ होने से पहले के जिन पांच सौ वर्षों में पालि का प्रारम्भ और विकास काल माना जाता है उसी कालखण्ड में अर्थात् 150 ई.पू. में हुए पतञ्जलि ने अपने विशालकाय व्याकरण ग्रन्थ महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। पतञ्जलि वैज्ञानिक वैयाकरण और भाषाविद् थे इसलिए उनके द्वारा किये गए इस उल्लेख का महत्व कम नहीं है। इस समस्या का समाधान भी तभी सम्भव है जब पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं को एक ही समान कालखण्ड की भाषाएँ माना जाये। इस वर्ग के विद्वानों का एक तर्क यह भी है कि संस्कृत से तुलना करने पर पालि और प्राकृत तथा अपभ्रंश सभी भाषाएं एक समान ही दृष्टिगोचर होती हैं। शब्द रूपों और धातु रूपों में भी द्विवचन की समाप्ति, नपुंसकलिंग की समाप्ति, अकारान्त प्रतिपादिकों का अभाव आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो मध्यकालीन आर्यभाषा के सभी रूपों में समान रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

इन तर्कों के आधार पर यद्यपि कुछ विद्वान मध्यकालीन आर्यभाषा काल को तीन उपकालों में विभक्त करने के विरुद्ध हैं और इसे समानरूप से प्राकृत अथवा अपभ्रंश काल कहना चाहते हैं, तथापि अभी प्रायः इसी मत को मान्यता मिली है कि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का विभाजन तीन उपकालों में है जिनमें से पालि उपकाल का स्थान इस क्रम में सबसे पहला है।

2. 'पालि' भाषा का नामकरण

प्रायः भाषाओं के नामकरण का कोई तार्किक आधार नहीं होता। अगर कोई जातिविशेष किसी भाषा को बोलती है तो उसके नाम पर भाषा का नाम रख दिया जाता है। जैसे उत्तरपूर्व भारत की बोड़ो जाति की भाषा भी बोड़ो ही कहलाती है। कई बार ग्रन्थ के नाम पर भाषा का नाम निर्धारण हो जाता हैं। जैसे अवेस्ता और वेद इन ग्रन्थों के नाम पर इनकी भाषाएँ क्रमशः 'अवेस्ता' और 'वैदिक' भाषाएँ कही जाती हैं। स्थान विशेष के नाम पर भाषा का नाम पड़ जाने की परम्परा तो बहुत व्यापक है। पंजाबी, हिमाचली, असमिया आदि नाम इसी कोटि के हैं। इसलिए यह प्रश्न बड़ा सार्थक है कि 'पालि' भाषा के इस नामकरण का आधार क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भारत के वैयाकरण और भाषावैज्ञानिक एक मत नहीं हैं। पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द की व्युत्पति 'पंक्ति' से मानी है। संस्कृत 'पंक्ति' शब्द का ध्वन्यात्मक परिवर्तन मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल तक पहुंचते-पहुंचते पक्ति पत्ति पाल्लि पाली पालि इस प्रकार हुआ होगा यह सहज ही माना जा सकता है। पंक्ति शब्द से पालि नाम का विकास मानने के पीछे यह धारणा काम कर रही है कि महात्मा बुद्ध के वचन जिन पंक्तियों में सुरक्षित हैं उसे ही कालक्रम में पालि कह दिया गया होगा।

मैक्सवालेसर के अनुसार 'पालि' नाम 'पाटलि' इस नगरवाची शब्द से विकसित हुआ है। पंक्ति के समान पाटलि शब्द का ध्वन्यात्मक परिवर्तन पाटलि पातलि पालि इस प्रकार मान लिया गया है। पाटलि शब्द पाटलिपुत्र इस नगर के नाम से ग्रहण किया गया है। पाटलिपुत्र नगर मगध साम्राज्य की राजधानी था। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि पालि भाषा मूल रुप से और मुख्य रुप से पाटलिपुत्र के आस-पास की ही भाषा थी। महात्मा बुद्ध ने भी सबसे अधिक इसी क्षेत्र में अपना धर्मोपदेश किया था। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पाटलि शब्द से पालि का विकास हुआ हो।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने पालिमहाव्याकरण के प्रथम खण्ड में पालि नाम का विकास 'परियाय' शब्द से माना है। त्रिपिटको में परियाय शब्द का प्रयोग बुद्ध वचनों के लिए हुआ है। परियाय की पालि तक की ध्वनि परिवर्तन की यात्रा इस प्रकार मानी गई है-परियाय-पलियाय-पालियाय-पालिय-पालि। इस मत को पर्याप्त समर्थन भी मिला है।

दो विद्वानों ने विभिन्न धातुओं से व्युत्पन्न करते हुए पालि शब्द को रक्षा अर्थ में प्रयुक्त किया था और इसी से भाषा के नामकरण की संगति ढूँढ़ने का प्रयास किया है। कोसम्बी नाम बौद्धविद्वान ने संस्कृत की रक्षार्थक धातु पाल् से पालि शब्द की व्युत्पत्ति मानी है और इस आधार पर पालि भाषा का अर्थ किया है वह भाषा जिसमें महात्मा बुद्ध के वचन सुरक्षित हैं। लगभग इसी का अनुसरण करते हुए आचार्य मोगालान ने संस्कृत की रक्षार्थक 'पा' धातु से 'लि' प्रत्यय जोड़कर पालि शब्द को व्युत्पन्न किया है। और पालि भाषा को बुद्ध वचनों की संरक्षिका भाषा माना है। पालि का अर्थ पंक्ति करते हुए आचार्य मोगालान ने लिखा है:-

'अत्थान् पाति रक्खतीती तस्मा पालि'

अर्थात् पालि वह भाषा है जिसमें बुद्ध वचनों के अर्थ सुरक्षित किये गए हैं।

एक अन्य बौद्ध विद्वाना भिक्षु सिद्वार्थ ने 'पालि' शब्द की व्युत्पति 'पाठ' शब्द से मानी है। पाठ का ध्वनि परिवर्तन पालि में इस प्रकार माना जा सकता है-पाठ-पाअठ-पाअल-पाल-पालि। इस व्युत्पत्ति का अर्थ स्वयं में ही पर्याप्त स्पष्ट है। अर्थात् पालि वह भाषा है जिसमें महात्मा बुद्ध के वचनों का पाठ किया गया है।

कुछ भाषाविदों ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकार से भी करने की कोशिश की है। संस्कृत में एक शब्द है-पल्लि जिसका अर्थ है-गाँव। सम्भवतः स्थानीय बोलियों में ग्रहण किये जाने वाले शब्दों को संस्कृत में भी ले लिया गया है। पल्लि-पालि इस विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्ति के आधार पर पालि शब्द को पल्लि से व्युत्पन्न मानते हुए इसे गांव की भाषा कहा गया है। ऐसा इस आधार पर किया गया प्रतीत होता है कि संस्कृत को शिष्टजनों की भाषा मानते हुए उसके विपरीत पालि को गांवों की अर्थात् जनसामान्य की भाषा माना गया है।

यद्यपि पालि भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में इतने अधिक मत प्रचलित है तथापि इनमें किसी भी मत को अन्तिम रूप से मान्यता नहीं मिली है। केवल भिक्षु जगदीश कश्यप का वह मत है जिसमें पालि भाषा की व्युत्पत्ति परियाय शब्द से मानी गई है, सबसे अधिक विचारणीय मत प्रतीत होता है जिसमें पालि शब्द का प्रयोग ममूल त्रिपिटक (सुत्तप्रिटक, विनयपिटक, अभिधम्मपिटक) के लिए मानते हुए वहीं से उसका प्रयोग भाषा के लिए भी माना जाता है। पालि साहित्य में कुछ स्थानों पर निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है- **"नेत्र पासियं नेवभट्ठ कथायं दिस्सति।"** यहाँ अट्ठकथा शब्द उस भाष्य (अर्थ कथा) के लिए है जो आचार्य बुद्धघोष ने मूल त्रिपिटकों पर लिखा था। इस वाक्य से स्पष्ट है कि यहाँ पालि शब्द उन मूल त्रिपिटकों के लिए है जिन पर बुद्धघोष की 'अट्ठ कथा' है। त्रिपिटक ग्रन्थों के लिए पालि शब्द का प्रयोग होना और फिर ग्रन्थवाची नाम का प्रयोग उसकी भाषा के लिए भी प्रयुक्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए पालि के नामकरण के सम्बन्ध में यह मत सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

3. पालि का मूलस्थान

जिस प्रकार 'पालि' भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में कोई एक मत प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार पालि के मूलस्थान के विषय में भी विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। पालि भाषा के मूलस्थान की समस्या इसलिये उत्पन्न हुई है क्योंकि पालि भाषा में उस भाषायी एकरूपता का अभाव है जो किसी भाषा की अपनी विशेषता होती है। पालि में अनेक स्थानों की ध्वनियों और शब्दों का प्रयोग एक साथ मिल जाता है विद्वान उसमें एक साथ कलिंग, उज्जयिनी, मथुरा (शूरसेन प्रदेश), विन्ध्य, कोशल, मगध आदि अनेक स्थान की भाषा अपने शोध और रुचि के आधार पर बताते रहते हैं। पालि भाषा में अनेक स्थानों की भाषायी विशेषताओं के प्रवेश पा जाने का कारण यह है कि महात्मा बुद्ध ने अनेक स्थानों पर घूम-घूमकर पालि भाषा में धर्म का प्रचार किया था और उनके शिष्यों ने तो और भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में इस प्रचार का विस्तार किया। विभिन्न प्रदेशों से आए भिक्षुओं द्वारा पालि भाषा में धर्मप्रचार करने के कारण विभिन्न प्रदेशों की भाषायी विशेषताएँ भी पालि में आ गई।

कुह्न ने उज्जयिनी को पालि का मूल स्थान माना है। इसका कारण यह है कि जब बिन्दुसार का पुत्र अशोक अपने पिता की आज्ञा से उज्जयिनी का, जो उस समय मालव देश की राजधानी थी, शासक बनाकर भेजा गया तो वहाँ जाकर उसने महादेवी से विवाह कर लिया। उसे महादेवी से ही महेन्द्र और संघ्यामित्रा ये दो सन्तानें हुई। बड़े होकर महेन्द्र और संघ्यामित्रा उज्जयिनी से बौद्धधर्म का प्रचार करने श्रीलंका गए। इसलिए कुह्न का मानना है कि पालि का मूलस्थान उज्जियनी में ही रहा होगा।

फ्रेंक ने अपनी पुस्तक 'पालि एण्ड संस्कृत' में पृथक् आधार पर पालि को उज्जियनी की भाषा सिद्ध किया है। उन्होंने विभिन्न शिलालेखों की भाषा का अध्ययन कर उसे शिलालेखीय पालि कहा है। इस भाषा का उन्होंने दक्षिण या पश्चिमी और पूर्व दक्षिण के खरोष्ठी में लिखे शिलालेखों की भाषा से पृथक् माना है और इस आधार पर पालि को उज्जयिनी या उसके आस-पास के प्रदेश की भाषा माना है।

कुछ विद्वान उज्जियनी के बजाए कलिंग को पालि का मूलस्थान मानने के पक्ष में हैं। ओल्डेनबर्ग के मत में पालि कलिंग की जनपदीय भाषा थी। यहीं से कुछ बौद्धप्रचारक लंका भी गए थे। खण्डगिरि के शिलालेखों का अध्ययनकर ओल्डेनबर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचे। म्यूलर भी कलिंग को ही पालि भाषा का मूलस्थान मानने के पक्ष हैं।

कुछ विद्वान मगध को पालि का मूलप्रदेश मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान विंडिश इसी मत के समर्थक हैं। वे मागधी को पालि का प्रारम्भिक रूप मानते हैं और ग्रियर्सन भी इसी विचार से सहमत हैं। विंडिश का कथन है कि यद्यपि मागधी और पालि की भाषाई विशेषताएं समान नहीं हैं पर मूल प्रदेश की दृष्टि से मगध की भाषा को ही पालि का आधार माना जा सकता है किसी अन्य भाषा को नहीं।

4. पालि का स्वरूप

विंडिश का यह निष्कर्ष वास्तव में इस समस्या से जुड़ा है कि पालि का स्वरूप वास्तव में क्या है। भारत की व्याकरण परम्परा में पालि और अपभ्रंश सहित सभी प्राकृत-भाषाओं को संस्कृत से उत्पन्न माना गया है। प्राकृत वैयाकरण, जैसे हेमचन्द्र, वररुचि और मार्कण्डेय अपने-अपने व्याकरण ग्रन्थों में इस मत की प्रतिष्ठा करते हैं। उनका कथन है कि संस्कृत ही मूल भाषा अर्थात् प्रकृति है और इसलिए उसके उत्पन्न होने वाली सभी भाषाएं प्राकृत हैं।

परन्तु पिछले कुछ समय से भाषा वैज्ञानिकों का एक ऐसा दल उभरा है जो यह मानता है कि पालि का उद्भव लौकिक संस्कृत से नहीं अपितु वैदिक संस्कृत से हुआ है। इस मत के अनुसार बौद्ध-ग्रन्थों में पालि भाषा का क्रमशः विकसनशील रूप हमें मिलता है जबकि त्रिपिटक ग्रन्थों के पद्यभाग की पालि को इस भाषा का प्राचीनतम रूप माना जाता है और इसी पद्यभाग की भाषा में वैदिक संस्कृत की अनेक विशेषताएं सुरक्षित हैं। इसके विपरीत गद्य भाग की पालि अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन (लौकिक) संस्कृत के अधिक निकट है और परवर्ती ग्रन्थों की पालि पर निश्चित रूप से लौकिक संस्कृत का ही प्रभाव माना जाता है।

कुछ विद्वान पालि को मगध की भाषा मागधी से विकसित हुआ मानते हैं। उल्लेखनीय है कि विडिश और ग्रियर्सन मागधी को पालि का प्रारम्भिक रूप मानते हैं पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मागधी की कई भाषाई विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका पालि में पूर्ण अभाव है। उदाहरण के तौर पर मागधी में अविनाभाव से र् के स्थान पर ल् का प्रयोग मिलता है जबकि पालि में र् और ल् दोनों का प्रयोग है। जैसे संस्कृत पुरुष मागधी पुलिश, संस्कृत, राजा मागधी लाजा ही बनेगा जबकि पालि में संस्कृत तरुण के लिए तरुण और तलुण दोनों रूप मिल जाते हैं।

इसी प्रकार मागधी में ष् और स् दोनों के लिए श् का प्रयोग मिलता है। जैसे-पुरुष-पुलिशे, एषः-एशे, हंसः-हंशे। परन्तु पालि में श् ष् के स्थान पर भी स् का प्रयोग मिलता है। जेसे शकुन-सकुण, आयुष्मान्-आवुसा, परिष्वजसे-पलिस्सजाति। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुछ मौलिक ध्वनिपरिवर्तनों की दृष्टि से पालि और मागधी में अन्तर निश्चित है।

किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि पालि किसी भी स्थान की मूल भाषा रही हो, तथा वह वैदिक अथवा लौकिक किसी भी संस्कृत के अधिक निकट रही हो, विभिन्न स्थानों से आए बौद्ध धर्म प्रचारकों के द्वारा उपदेशों में प्रयुक्त किए जाने के परिणामस्वरूप पालि का स्वरूप और प्रयोग क्षेत्र दोनों ही बड़े व्यापक हो गए। धीरे-धीरे पालि सम्पूर्ण उत्तरभारत अथवा मध्यप्रदेश की सामान्य बोलचाल की भाषा बन गई।

5. संस्कृत और पालिस्वर

संस्कृत और पालि की स्वरप्रक्रिया परस्पर समान है। केवल दो विशेषताओं का इस सम्बन्ध में उल्लेख करना आवश्यक है। पहली विशेषता यह है कि संस्कृत के ऋ, लृ, ऐ और औ- इन चार स्वरों का पालि भाषा में नितान्त अभाव है। शेष सभी संस्कृत स्वर पालि में भी प्राप्त हो जाते हैं, दूसरी विशेषता यह है कि पालि भाषा में संस्कृत स्वरों के अनेक रूपान्तर मिल जाते हैं इस परिप्रेक्ष्य में इन भाषाओं के स्वरों की तुलना निम्नलिखित प्रकार से हो सकती है :-

1. संस्कृत अ पालि भाषा में निम्न रूपों में प्राप्त होता है:-
   अ = अ = अग्नि-अग्नि, अग्र-अग्ग, अर्थ-अट्ठ
   अ = ए = = अधः – हेट्ठा, अन्तःपुर-अन्तेपुर, शय्या-सेय्या।
   अ = उ = पर्जन्य-पज्जुण्ण, निमज्जति-निमुज्जति।
   अ = ओ = तिरस्क-तिरोक्ख, संमर्ष-समोस।
2. संस्कृत आ पालि भाषा में निम्न रूपों में मिलता है:-
   आ = आ = आकाश-आकास, आशङ्क-आसङ्क, श्रावकः-सावको।
   आ = ए = पारावतः-पारेवत, मात्र-मेत्त, आचार्य-आचेर।
   आ = ओ = दोषाः-दोसो, परावर-परोवर।
3. पालिभाषा में संस्कृत इ का निम्न परिवर्तन मिलता है:-
   इ = इ = इन्द-इन्द्र, इतिवृत्त-इतिवुत्त।
   इ = अ = गृहिणी-घरणी, पृथ्वी-पठवी।
   इ = ए = इयत्-एत्त, मञ्जिष्ठ = मञ्जेट्ठ।
   इ = उ = राजिल-राजुल, गैरिक-गोरुक।
4. संस्कृत ई के भी पालि रूपाकार मिलते हैं: –
   ई = ई = ईशः-ईसो, गौतमी-गोतमी।
   ई = ए = क्रीड़ा-खेल, गृहीत्वा-गाहेत्वा।
5. संस्कृत उ, ऊ पालि में निम्नरूपों में मिलते हैं: –
   उ = उ = भिक्षु-भिक्खु, उग्र-उग्ग, कुब्ज-खुज्ज।
   उ = अ = अगुरू-अगरू।

उ = ओ = अनुपम-अनोपम।

6. संस्कृत ऋ के पालि में अनेक रूपान्तर मिलते हैं :-

   ऋ = अ में = गृह-गह, ऋक्ष-अच्छ।

   ऋ = इ में = ऋण-इण, कृश-किस, ऋषि-इसि, श्रृगाल-सिगाल।

   ऋ = उ में -ऋषभ-उसभ, पृच्छ-पुच्छ।

   ऋ = रि में = ऋते-रिते, ऋतु-रितु।

   ऋ = रु में = वृक्ष रुक्ख।

7. संस्कृत ए पालि में प्रयाः इ में बदल जाता है। जैसे प्रवेशक-पबिस्सक। पर कहीं कही उसका ए रूप भी मिल जाता है। जैसे एक:-एको।
8. संस्कृत ऐ पालि में सर्वत्र ए में बदल जाता है। जैसे-कैलाश-केलाश, वैदेह-वेदेह, विदेह।
9. संस्कृत ओ पालि में सर्वत्र ए में बदल जाता है। जैसे विशोक-बिसूक, ज्योत्सना, जुण्हा। पर कहीं कही उसका ओ रुप भी मिल जाता है, जैसे-मोक्ष-मोक्ख।
10. संस्कृत औ पालि में सर्वत्र ओ में बदल जाता है। जैसे-गौतम-गोतम, औषध-ओसध, सौवीर-सोवीर।

इन स्वर परिवर्तनों के अतिरिक्त संस्कृत और पालि की स्वरव्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विद्वानों ने कुछ स्वरनियमों का उपस्थापन भी किया है। ये स्वर नियम इस प्रकार हैं:-

1. संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती दीर्घस्वर पालि में परिवर्तित होकर प्रायः ह्रस्व हो जाते हैं। जैसे-संस्कृत पूर्ण पालि-पुण्ण, तीर्थ-तित्थ, शान्त-सन्त, शाक्य-सक्क।
2. कभी-कभी संस्कृत के इस प्रकार के शब्द पालि में परिवर्तित होते समय अपने दीर्घस्वर को तो बनाए रखते हैं किन्तु संयुक्त व्यञ्जनों में से एक को छोड़ देते हैं। जैसे-ऊर्मि-ऊमि, आर्जव-आजव।
3. कुछ उदाहरणों में संस्कृत का दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है किन्तु उसके व्यञ्जन का द्वित्वीकरण हो जाता है। जैसे नीड-निड्ड, जानु-जण्णु।
4. कई उदाहरणों में दीर्घ स्वर बिना किसी अन्य विशिष्ट परिणाम के भी ह्रस्व हो जाते हैं। जैसे-आचार्य-आचरिय, पानीय-पानिय।
5. इसी प्रकार बिना किसी विशिष्ट परिणाम के ह्रस्व स्वर पालि में दीर्घ हो जाते हैं। जैसे-अजिर-आजिर, पायस-पायास, प्रकट-पाकट, प्रवचन-पावचन।
6. अनुनासिक स्वर पालि में दीर्घ हो जाते हैं पर उससे उनकी अनुनासिकता प्रायः समाप्त हो जाती है। जैसे-सिंह-सीह, विंशति-बीसति, दंष्ट्रा-दाठा, दंश-डास।
7. कई उदाहरणों में संस्कृत के सरल स्वर पालि में आकर सानुनासिक हो जाते हैं। जैसे-अश्रु-अंसु, श्रृंगाल-सिंगाल, दर्शन-दसण।
8. कई स्वरों का कहीं कहीं लोप भी हो जाता है। जैसे-अलंकार-लंकार, अपि-पि, एव-व, दुहिता-धीता।

6. संस्कृत और पालि व्यञ्जन

जिस प्रकार ऋ, लृ, ऐ, औ को छोड़कर शेष सभी संस्कृत स्वर पालि भाषा में मिल जाते है चाहे कुछ उदाहरणों में उनका रूपान्तरण हो जाता है, उसी प्रकार श् और ष् को छोड़कर संस्कृत व्यञ्जन भी पालि में प्राप्त हो जाते हैं। स्वरों के समान व्यञ्जन भी अपने यथावत रूप में और कुछ उदाहरणों में रूपान्तरित होकर मिल जाते हैं। इनका अध्ययन हम तीन प्रकार से करेंगे। पहले हम यह दिखायेंगे कि किस प्रकार संस्कृत के सभी व्यञ्जन पालि से भी प्राप्त हो जाते हैं। फिर हम दिखाएंगे कि किस प्रकार संस्कृत के घोष-अघोष तथा अल्पप्राण-महाप्राण का पालि में पारस्परिक परिवर्तन हो जाता है। अन्त में हम कुछ विशिष्ट परिवर्तनों के पालि उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

संस्कृत के सभी व्यञ्जन वर्ग पालि भाषा में भी उसी रूप में मिल जाते हैं। जैसे-

1. कवर्ग = कृष्ण-कण्ह, खाद्य-खज्ज, गर्ग-गग्ग, घट-घट।
2. चवर्ग = चक्र-चक्क, चैत्य-चेतिय, ज्येष्ठ-जेट्ठ। छ और झ् के उदाहरण स्वयं संस्कृत भाषा में ही अत्यन्त विरलता से प्राप्त होते हैं।
3. टवर्ग = प्रकट-पाकट, ज्येष्ठ-जेट्ठ।
4. तवर्ग = तर्क-तक्क, स्थविर-थेर, पथ-पथ, दुर्लभ-दुल्लभ, नगर-नगर, धन-धन।
6. अन्तस्थ = यश-यस, रक्त-रक्त, लवण-लोण, विरूप-वीरूप, शाक्य-सक्क, हस्तिपाल-हत्थिपाल।

यह व्यञ्जन वर्गों के तुनात्मक अध्ययान का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष वह है जिसमें व्यञ्जन पालि भाषा तक पहुँचते पहुँचते काफी परिवर्तित हो जाते हैं। इन रूपान्तरित संस्कृत व्यञ्जनों का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित नियमों की सहायता से किया जा सकता है। जैसे-

1. घोषीकरण : संस्कृत के अघोष व्यञ्जन अर्थात् वर्ग के पहले और दूसरे व्यञ्जन पालि भाषा में कई बार सघोष हो जाते हैं अर्थात् वर्ग के तीसरे और चौथे व्यञ्जन में बदल जाते हैं। जेसे-शाकल-सागल, उताहो-उदाहो।
2. अघोषीकरण : इससे बिल्कुल विपरीत नियम अघोषीकरण का है। इसके अनुसार संस्कृत के सघोष व्यञ्जन पालिभाषा में अघोष हो जाते है। जैसे-कुसीद-कुसीत, पाजेति-पाचेति, मृदंग-मूलिंग।
3. महाप्राणीकरण : कुछ उदाहरणों में संस्कृत के अल्पप्राण व्यञ्जन अर्थात् वर्ग के पहले (क् च् ट् त् प्) और तीसरे (ग् ज् ड् द् ब) व्यञ्जन पालि में पहुँचते-पहुँचते महाप्राण हो जाते हैं अर्थात् वर्ग के दूसरे (ख् छ् ठ् थ् फ्) और चौथे (घ् झ् द् ध् भ्) व्यञ्जन में बदल जाते है। जैसे-कील-खील, परशु-फरसु, द्रष्टा-दाठा।
4. अल्पप्राणीकरण : यह इससे बिल्कुल विपरीत नियम है। इसके अनुसार संस्कृत के महाप्राण व्यञ्जन पालि में आकर अल्प्रकाण हो जाते हैं। जैसे-भगिनी-बहिणी। इस प्रकार के उदाहरण बहुत अधिक संख्या में प्राप्त नहीं होते क्योंकि स्वयं संस्कृत में ही थ्, ध्, भ्, को छाड़कर शेष सात महाप्राण व्यञ्जनों का प्रयोग बहुत विरल होता है।
5. संस्कृत के श् और ष् नियमित रुप से स् में बदल जाते हैं। जैसे-शाक्य-सक्क, षष्टि-सट्टि, पृषत-पसद, शब्द-सद्द।
6. संस्कृत के सघोष महाप्राण व्यञ्जनों का कई बार ह् में परिवर्तन हो जाता है। जैसे-लघु-लहु, रुधिर-रुहिर, भवति-होती।

संस्कृत और पालि व्यञ्जनों के तुलनात्मक अध्ययन के इन दो पक्षों के अतिरिक्त तीसरा पक्ष वह है जिसके अन्तर्गत कुछ विशिष्ट प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है। जैसे-(1) यश्रुति-पालि व्यञ्जनों के तुलनात्मक अध्ययन में इस ध्वनि वैशिष्ट्य को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि संस्कृत द् के स्थान पर पालि में कहीं कहीं य् का प्रयोग मिलने लगता है। जैसे-गोदान-गोयान, खादित-खायित, स्वदते-सायति। वास्तव में यश्रुति की यह विशेषता मागधी साहित्यिक प्राकृत की अपनी विशेषता है। पालि में इसका प्रारम्भिक रूप ही प्राप्त होता है। इस आधार पर कुछ भाषावैज्ञानिकों ने पालि को अर्धमागधी साहित्यिक प्राकृत का प्रारम्भिक रूप माना है।

2. समीकरण- पालि भाषा में संयुक्तः व्यञ्जनों में एक विशिष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत के इन शब्दों का जिनमें संयुक्त व्यञ्जन प्राप्त होते हैं, पालिभाषा में सरलता की प्रवृत्ति का आश्रय लेते हुए समीकरण हो जाता है। यह प्रवृत्ति पालि में पूर्णतया प्रतिष्ठत है। जैसे-दुर्लभ-दुल्लभ, आर्य-आय्य, सप्त-सत्त, शुक्ल-सुक्क, अश्व-अस्स, मुक्त-मुत्त, तप्यते-तप्पति।
3. संस्कृत के अन्त्य व्यञ्जनों का पालि में प्रायः लोप दिखायी देता है। जैसे-विद्युत-विज्जु, सुमेधस-सुमेधा।
4. पर कुछ उदाहरणों में संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्द पालि में स्वरान्त हो गए हैं। जैसे-शरत्-सरद।
5. स्वरभक्ति-कुछ उदाहरणों में स्वर की सहायता से संस्कृत के संयुक्त व्यञ्जनां का पालि में सरलीकरण कर दिया गया है। जैसे-आचार्य-आचरिय, सूर्य-सूरिय।

7. संस्कृत और पालि रूपरचना

संस्कृत और पालिभाषा की रूपरचना की तुलना करने से पूर्व कुछ सामान्य तुलनात्मक विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। ये विशेषताएं निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत की जा सकती हैं। जैसे-

1. संस्कृत और पालि के व्यञ्जनों की तुलना करते समय हम कुछ ऐसे उदाहरणों का उल्लेख कर आए हैं जिनमें संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्द या तो स्वरान्त हो जाते हैं (जैसे शरद्-सरद) या फिर उनके अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है (जैसे विद्युत-विज्जु)। इन दोनो प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ है कि संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्द पालि भाषा तक पहुँचते पहुँचते स्वरान्त हो गए हैं। इसका रूपरचना की दृष्टि से तात्पर्य यह है कि जहाँ संस्कृत भाषा में दो प्रकार के प्रातिपादिक प्राप्त होते हैं-स्वरान्त और व्यञ्जनान्त जिन्हें संस्कृत व्याकरण में क्रमशः अजन्त और हलन्त कहा गया है वहाँ पालिभाषा में केवल स्वरान्त अर्थात् अजन्त प्रातिपादिक ही मिलते हैं, व्यञ्जनान्त समाप्त हो गए हैं।
2. संस्कृत के समान पालि में भी पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग-इस प्रकार तीनों लिंगों में रूप-रचना प्राप्त होती है।
3. वचन की दृष्टि से एक विशिष्ट अन्तर है। जहाँ संस्कृत में तीन वचन मिलते हैं-एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन, वहाँ पालि में केवल दो ही वचन हैं-एकवचन और बहुवचन। द्विवचन समाप्त हो गया है। वैसे तो द्विवचन के संकोच की प्रक्रिया स्वयं संस्कृत में ही प्रारम्भ हो गई थी जहाँ सात विभक्तियों के सात द्विवचन रूपों के स्थान पर केवल तीन द्विवचन रूप ही मिलते हैं। प्रथमा-द्वितीया के, तृतीया-चतुर्थी-पंचमी के और षष्ठी-सप्तमी के द्विवचन वर्ग एक समान हैं।
4. क्रिया पदों में संस्कृत के समान ही तीन पुरुषों का प्रयोग मिलता है-प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, और उत्तम पुरुष।

5. शब्द रूपों के समान क्रियारूपों में भी द्विवचन का पूरी तरह लोप हो गया है।
6. संस्कृत के आत्मनेपदऔर परस्मैपद क्रिया रूपों में से पालि में केवल परस्मैपद रह गया है और आत्मनेपद का लोप हो गया है।
7. वैदिक भाषा की लकार समृद्धि तो संस्कृत में ही संकुचित होनी प्रारम्भ हो गई थी। वैदिक भाषा का लेट् लकार, जिसके दो भाव (Mood) सबजेक्टिव ओर ऑबजेक्टिव पाश्चात्य विद्वानों द्वारा माने गए, संस्कृत में समाप्त हो गया था। पालि तक आते आते लिट् (परोक्षभूत) और लुट् (अद्यतन भविष्य) भी समाप्त हो गए। शेष आठ लकार रह गए हैं।
8. संस्कृत का अदादिगण पालि में समाप्त हो गया है। स्वादि (ना), दिवादि (द्य) और नुदादि (भ) भी अपवाद स्वरुप ही रह गये है। इस प्रकार पालि में वास्तव में छह गण ही रह गए हैं-म्वादि, जुहोत्यादि, स्वादि, तनादि, क्रयादि और चुरादि।
9. संस्कृत में वाच्य तीन हैं-कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य और भाववाच्य। पालि में भाववाच्य समाप्त हो गया है और शेष दो वाच्य रह गए हैं।
10. जहाँ तक विभक्तियों का प्रश्न है, पालि की रूपसमृद्धि लौकिक संस्कृत से कहीं अधिक है और यह विशेषता उसे वैदिक भाषा के निकट पहुँचा देती है। इस आधार पर लौकिक संस्कृत और पालि की रूपरचना का एक तुलनात्मक अध्ययन सहायक सिद्ध हो सकता है-

संस्कृत धर्म	पालि धम्म
एकवचन	बहुवचन
प्रथमा = धर्मः-धम्मो	धर्माः-धम्मा, धम्मासे
द्वितीया = धर्मम्-धम्मं	धर्मान्-धम्मे
तृतीया = धर्मेण-धम्मेन	धर्मैः-धम्मेभि, धम्मेहि
चतुर्थी = धर्माय-धम्माय	
पंचमी = धर्मात्-धम्मा, धम्मस्मा, धम्मम्हा	धर्मेभ्यः-धम्मेभि, धम्मेहि
षष्ठी = धर्मस्य-धम्मस्य	धर्माणाम्-धम्मानम्
सप्तमी = धर्मे-धम्मे, धम्मास्मि, धम्माम्हि	धर्मेषु-धम्मेसु

संस्कृत-पालि रूपरचना की इस तुलना से पालि की रूप समृद्धि का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

पाठ-13

साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ- इतिहास

1. 'प्राकृत' नामकरण

प्राकृत भाषाओं के काल और उनकी विशेषताओं का अध्ययन करने से पूर्व इस बात का विवेचन करना बहुत आवश्यक है कि 'प्राकृत' शब्द का क्या अर्थ है। विद्वानों में इस के नामकरण के सम्बन्ध में मतभेद है जिसके परिणामस्वरुप इसके अर्थ में स्वयमेव अन्तर पड़ जाता है। संस्कृत भाषा में दो शब्द प्राप्त होते है-प्रकृति और विकृति। प्रकृति का अर्थ है मूल अथवा स्वाभाविक रूप और विकृति का अर्थ है परिवर्तित अथवा बदला हुआ रूप यदि प्राकृत शब्द को प्रकृति से बना हुआ मान लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि इस भाषा की प्रकृति अर्थात् मूल रूप क्या है?

इस आधार पर विद्वानों के एक वर्ग का मानना है कि प्रकृति का अर्थ है सहज अथवा स्वाभाविक स्थिति इसलिए प्राकृत का अर्थ बोलने वालों की सहज या स्वाभाविक भाषा से है। प्रायः हर देश और हर काल में भाषा के दो रूप होते हैं। एक उसका सहज अथवा स्वाभाविक रूप होता है जो जनसामान्य की भाषा मानी जाती है। इसी को 'लिंग्वा फ्रांका' अथवा बोलचाल की भाषा कहते हैं। इसके अतिरिक्त भाषा का एक दूसरा रूप भी होता है जिसे उसका परिनिष्ठित अथवा परिष्कृत रूप भी कहते हैं। इसी को उस भाषा का साहित्यिक रूप भी कहा जाता है 'प्रकृति शब्द का सहज और स्वाभाविक' इस प्रकार का अर्थ मानने वाले विद्वानों का कहना है कि प्राकृत अपने समय की सामान्य जन की सहज और बोलचाल की भाषा थी जबकि संस्कृत उस समय की परिनिष्ठित अथवा साहित्यिक भाषा थी। काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु का भी यही मत है कि सहज वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं और उसी से प्राकृत भाषा बनी है-

"सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् ।।"

यद्यपि इस समय हम जिन प्राकृत भाषाओं का अध्ययन करेंगे वे उस समय की साहित्यिक प्राकृतें थीं। स्वाभाविक ही है कि प्राकृत भाषाओं ने जो पहले जनसामान्य की दैनिक व्यवहार की भाषाएँ थीं उन्होंने बाद में परिनिष्ठित साहित्यिक रूप धारण कर लिया था। प्रायः हर बोलचाल की भाषा की अन्तिम परिणति साहित्यिक रूप के विकास में या किसी अन्य साहित्यिक भाषा में विलीन हो जाने में हो जाती है। यही स्थिति प्राकृत भाषाओं की भी रही जो अस्वाभाविक नहीं है। चूंकि उस समय की सामान्य बोलचाल की प्राकृतों का अध्ययन करने के लिए कोई स्रोत हमारे पास आज उपलब्ध नहीं हैं इसलिए हम साहित्यिक प्राकृत भाषाओं का अध्ययन कर सकते हैं पर इससे यह धारणा खण्डित नहीं होती कि संस्कृत जब परिष्कृत अथवा परिनिष्ठित रूप को प्राप्त हो चुकी थी उस समय जनसामान्य के दैनिक व्यवहार की भाषा का नाम प्राकृत था। इस धारणा को मानने वाले विद्वानों का मानना है कि प्राकृत और संस्कृत ये दोनों शब्द ही एक दूसरे के विपरीतार्थक हैं। प्राकृत भाषाओं के नामकरण के सम्बन्ध में ये एक मत है।

विद्वानों का दूसरा वर्ग प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न मानने वालों का है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार प्रकृति का अर्थ है मूल और वे संस्कृत को प्राकृत का मूल मानकर उसका अर्थ भी उसी प्रकार करते हैं। प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत का मूल मानकर उसका अर्थ उसी प्रकार किया है। आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार-

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतम्। "

अपने ग्रन्थ प्राकृत सर्वस्व में मार्कण्डेय लिखते हैं-

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।"

कर्पूरमंजरी के टीकाकार वासुदेव का कहना है–

"प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः।"

इस मत का समर्थन करनेवालों में प्राकृतप्रकाश के रचयिता वररुचि और दशरूपक के सहलेखक धनिक का नाम भी है। आधुनिक विद्वानों में चिन्तामणि विनायक वैद्य और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर इसी धारणा का पोषण करते हैं।

इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्ति कुछ विदेशी विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो प्राकृत शब्द को "प्राक्कृत" का विकृत रूप मानता है। 'प्राक्कृत' का अर्थ है जो पहले से ही बनाई गई है। प्राकृत भाषा पहले ही, अर्थात् संस्कृत से भी पहले से ही प्रयोग में आने वाली किसी भाषा से उत्पन्न हुई है। ऐसा माना जाता है कि लौकिक संस्कृत के समानान्तर इस देश में पालि प्राकृत आदि की पूर्व भाषा भी किसी रूप में चलती रही है जिसके विकास में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत का बहुत अधिक

प्रभाव है। अर्थात् वैदिक संस्कृत से एक ओर लौकिक संस्कृत का विकास हुआ जिससे फिर मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते पालि प्राकृत आदि का विकास हुआ। प्राकृत भाषाओं के नामकरण सम्बन्धी इस धारणा को बहुत कम विद्वानों का समर्थन प्राप्त हुआ है।

2. प्राकृत भाषाओं की संख्या

जिस प्रकार 'प्राकृत' इस नामकरण की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं वैसे ही प्राकृतों के सम्बन्ध में भी विद्वानों का मत एक नहीं है। आधुनिक विद्वानों में फिर भी इस सम्बन्ध में मतभेद बहुत कम है पर प्राचीन विद्वानों में तो इस बारे में व्यापक मतभेद है। प्राकृत भाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि के अनुसार प्राकृतों की संख्या चार है-महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। वास्तव में यह संख्या साहित्यिक प्राकृत भाषाओं की है सामान्य बोलचाल की प्राकृतों की नहीं। हेमचन्द्राचार्य ने कुल सात प्राकृत भाषाएँ मानी हैं जिनमें वररुचि द्वारा परिगणित चार प्राकृतों के अतिरिक्त तीन और नाम हैं-आर्ष, चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश। आर्ष सम्भवतः अर्धमागधी के लिए प्रयुक्त किया गया है। जैन आगम अर्धमागधी में लिखे गए हैं जिसे जैन धार्मिक परम्परा में सम्मान और श्रद्धा के वशीभूत होकर आर्ष कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र जैन थे इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त आर्ष शब्द अर्धमागधी के लिए ही हो सकता है। अपभ्रंश का प्रयोग हेमचन्द्र ने सम्भवतः इसलिए किया है क्योंकि उनके समय तक साहित्यिक अपभ्रंश का विकास हो चुका था। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र भी साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध में ही अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं।

प्राकृतों की संख्या के सम्बन्ध में परवर्ती आचार्यों के विचार तो और भी अधिक विचित्र हैं और इसलिए अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक आचार्य को जितनी संस्कृतेतर भाषाओं का परिचय था उन सबका परिगणन उन्होंने प्राकृतों में कर दिया। उदाहरण के तौर पर प्राकृत-सर्वस्व के लेखक मार्कण्डेय ने कुल सोलह प्राकृतों की गणना की है। पहले उन्होंने प्राकृतों के चार प्रधान भेद किए हैं-

भाषा-माहाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, मागधी।

विभाषा-शकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरिका, ढक्की।

अपभ्रंश-नागर, उपनागर, ब्राचड़।

पैशाच-कैकेय, शौरसेन, पांचाल।

एक दृष्टि से मार्कण्डेय ने प्राकृतों के परिगणन में कुछ वैज्ञानिक होने का प्रयास किया है। पर उनकी यह गणना उनके अपने समय की भाषाई परिस्थिति में वैज्ञानिक हो सकती है, लेकिन आधुनिक मानदण्डों के अनुसार इस परिगणन की वैज्ञानिकता सन्दिग्ध है। क्योंकि जिस गणना में माहाराष्ट्री जैसी अत्यन्त परिनिष्ठित भाषा को चाण्डाली और ब्राचड़ के साथ रखा गया हो उसे बहुत अधिक महत्व दे पाना सम्भव नहीं।

मृच्छकटिक में अनेक प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया गया है। नाटक के टीकाकार लक्ष्मीधर के अनुसार इन प्राकृतों के नाम इस प्रकार हैं-शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की। इस प्रकार कुल सात प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मृच्छकटिक में किया गया है।

इन सभी संख्या-विविधताओं का अध्ययन करने के उपरान्त आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने प्रमुख रुप से पांच साहित्यिक प्राकृतों का नामांकन किया है-पैशाची, माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी। ये सभी प्राकृत प्रायः सम्पूर्ण आर्यभाषा-भाषी क्षेत्र को व्याप्त कर लेती हैं। इनके अलावा और जितनी भी प्राकृतों का नाम व्याकरण ग्रन्थों, साहित्य की पुस्तकों में अन्यत्र मिलता है उन सभी को इन पांच साहित्यिक प्राकृतों के प्रभावक्षेत्र में गिनवा देना कठिन नहीं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाकाल (500 ई.पू. से 1000 ई.) के प्राकृत उपकाल (ईस्वी सदी प्रारम्भ से 500 ई.) में इन पांच सहित्यिक प्राकृतों का ही अध्ययन भाषाविज्ञान में होता है। अब इन पांच सहित्यिक प्राकृत भाषाओं का क्रमशः ऐतिहासिक विवेचन किया जाता है।

3. पैशाची

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा परिगणित पांच साहित्यिक प्राकृत भाषाओं में पैशाची का स्थान सबसे पूर्व रखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि विकास के कालक्रम की दृष्टि से पैशाची सबसे प्राचीन प्राकृत मानी गई है। यद्यपि आज पैशाची का कोई लिखित अवशेष उपलब्ध नहीं है तथापि अपने प्रवाहकाल में इसमें पर्याप्त और उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया होगा ऐसा उपलब्ध संकेतों और सन्दर्भों के आधार पर माना गया है।

सबसे पहले इस भाषा के नामकरण पर विचार किया जाए। महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि भारत के उत्तर पश्चिम में काश्मीर के पास पिशाच नाम की जाति का निवास था। या तो इस जाति का राजनीतिक वर्चस्व बहुत ज्यादा था, जिससे इसके

नाम पर वहाँ की भाषा का नाम पैशाची पड़ गया या इस जाति की भाषा ने शेष भाषाओं पर अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता सिद्ध कर दी होगी। कारण कोई भी रहा हो, ऐसा निश्चित ही माना जाता है कि पिशाच जाति के साथ सम्बद्ध होने के कारण इस भाषा का नाम पैशाची पड़ गया।

पर पिशाचों की भाषा होने के कारण परवर्ती काल में इस भाषा के नामकरण को लेकर विद्वानों में एक भ्रम पैदा हुआ और इस जाति को प्रेत का पर्यायवाची माना जाने लगा। हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि इस जाति के कुछ क्रूर और भयभीत कर देने वाले कार्यों के कारण इसे ऐसी प्रसिद्धि मिली होगी और सम्भवतः अपने इन्हीं कारनामों से इस जाति का विनाश हो गया। पर ऐसी ऐतिहासिक भ्रान्ति के कारण ही परवर्ती आचार्यों ने पैशाची को भूतभाषा कहना प्रारम्भ कर दिया। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में जिस भूतभाषा का उल्लेख किया है वह सम्भवतः पैशाची ही है।

पैशाची को इस प्रकार की प्रसिद्धि मिल जाने के कारण ही इसको लेकर कल्पनाशील भ्रांतियाँ तो बहुत फैल गईं किन्तु इसका शोधपरक अध्ययन समाप्त हो गया। यहाँ तक कि पैशाची का महानतम ग्रन्थ, गुणाढ्य की 'वड्डुकहा', आज इतिहास के गर्त में लुप्त हो चुका है। इतना ही नहीं, इसके बारे में यह कथा प्रचलित हो गई है कि भूत, प्रेत और पिशाच जन गुणाढ्य की कहानी कह सकने की अनुपम प्रसिद्धि से प्रभावित होकर उसे अपने यहाँ अपहरण करके ले गए। वहाँ गुणाढ्य नित्य उनके लिए अस्थि की बनी लेखनी से शुष्क मांसपिण्डों पर कथाएं लिखते थे जो बाद में वड्डुकहा कहलाई।

इस प्राकृत के प्रयोग क्षेत्र को लेकर कोई विशेष दुविधा नहीं है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान हार्वली ने इसे द्रविड़ों की भाषा माना है, पर उस मत को विशेष समर्थन नहीं मिला है। पुरुषोत्तम देव ने इसे अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित और विकृत रुप माना है। ग्रियर्सन इसे दरद जाति की भाषा मानने के आधार पर यही नामकरण भी देते हैं। किन्तु महाभारत में पिशाच के साथ साथ काश्मीराः, उरगाः, काम्बोजाः, दरदाः, शकाः, आदि जिन जातियों का उल्लेख है यदि उसे एक निश्चित आधार माना जाए तो पैशाची भाषा पूरे उत्तर पश्चिम भारत की प्राकृत मान ली जानी चाहिए। इन्हीं संकेतों के आधार पर ग्रियर्सन ने इस भाषा का प्रभाव क्षेत्र असन्दिग्ध शब्दों में उत्तर पश्चिम भारत माना है। आज के भौगोलिक वर्गीकरण की दृष्टि से पश्चिमी पंजाब में अफगानिस्तान तक पैशाची भाषा के प्रभाव क्षेत्र को अंकित किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में पैशाची प्राकृत उस प्रदेश की भाषा थी जिसे वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों के रचनाकाल से ही उदीच्यदेश कहा जाता रहा है। उदीच्यदेश की भाषा होने के कारण पैशाची को लाभ भी हुआ और हानि भी। भारत की भाषाई परम्परा में उदीच्यदेश का स्थान पर्याप्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी प्रदेश में वेदों की रचना होने से यह मान्यता थी कि संस्कृत का शुद्ध रूप सीखने के लिए उदीच्यदेश जाना चाहिए। इतने महत्वपूर्ण और आदरास्पद क्षेत्र की भाषा होने के कारण पैशाची को भी अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक सम्मान मिला। पर इसी आधार पर पैशाची को दो हानियां भी हुई। पहली यह कि इस पर संस्कृत का भाषाई प्रभाव इतना अधिक रहा कि स्वतन्त्र प्राकृत के रूप में उसका विकास अच्छी तरह से नहीं हो पाया। दूसरी हानि यह हुई कि संस्कृत के आधिपत्य के कारण इसका शीघ्र ही लोप भी हो गया।

पैशाची के भाषाई वैविध्य को लेकर भी मतभेद है। मार्कण्डेय सदृश कुछ प्राचीन वैयाकरणों का मानना है कि कैकेय शौरसेनी और पांचाली भी इसी के रूप थे। यदि इस धारणा को स्वीकार कर लिया जाए तो पैशाची का प्रभावक्षेत्र बहुत ही विशाल हो जाता है। आज के पश्चिमी पाकिस्तान और उसके साथ जुड़े सम्पूर्ण उत्तरपश्चिम भारत की भाषाएँ पैशाची की आधुनिक उत्तराधिकारिणी भाषाएं मान ली जाएँगी। एक अन्य प्राकृत वैयाकरण वररुचि का मानना है कि पैशाची भाषा शौरसेनी की प्रकृति अर्थात् उत्पत्ति कारण है। इससे प्रतीत होता है कि पैशाची का शौरसैनी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा।

जहाँ तक पैशाची के साहित्य का प्रश्न है वह इस समय उपलब्ध नहीं है। पर इसमें कदाचित् पर्याप्त साहित्य लिखा गया था। ईसा की पहली शताब्दी में गुणाढ्य ने वृहत्काय ग्रन्थ 'वड्डुकहा' पैशाची में लिखा था। यह पद में था या गद्य में इस पर मतभेद है। परन्तु इसका परिमाण एक लाख श्लोक माना जाता है। गुणाढ्य के इस लुप्त ग्रन्थ में सम्भवतः स्थानीय लोक कथाओं का संग्रह था। आज इस ग्रन्थ के तीन संस्कृत रूपान्तर मिलते हैं- 1. नेपाल के बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोक संग्रह जिसकी रचना 8वीं -9वी सदी में हुई मानी जाती है। 2. ग्यारहवीं सदी में क्षेमेन्द्र द्वारा रचित बृहत्कथामंजरी और 3. सोमदेव द्वारा रचित बृहत्कथाश्लोकसंग्रह। इनमें से बुधस्वामी के 'श्लोकसंग्रह' पर कहीं कहीं प्राकृत का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

पैशाची की भाषाई विशेषताओं के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है क्योंकि प्राकृत वैयाकरणों ने जो विशेषताएँ गिनवाई हैं वे पैशाची के लुप्त हो जाने के पर्याप्त समय के बाद लिखी गई हैं। सम्भवतः श्रुतिपरम्परा से उनका आख्यान किया गया होगा। इसके अनुसार पैशाची प्राकृत की प्रमुख भाषाई विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. पैशाची प्राकृत की सबसे बड़ी विशेषता अघोषीकरण है जिसकी उपलब्धि अन्य प्राकृतों में बहुत कम होती है। संस्कृत के सघोष स्पर्श व्यंजन बहुधा पैशाची में अघोष स्पर्श बन जाते हैं। जैसे गगन-गकन, मेघा-मेखो, राजा-राचो,। पैशाची में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

2. संस्कृत और पैशाची के र् और ल् में परस्पर परिवर्तन हो जाता है। अर्थात् संस्कृत का र् पैशाची में ल् और संस्कृत ल् पैशाची में र् हो जाता है। जैसे -रुद्र, लुद्र, कुमार:कुमालो।
3. संस्कृत ल् पैशाची में कई बार क् हो जाता है। जैसे सलिलम्-सलिकम्, कमलम्-कमक। यह विशेषता पैशाची को वैदिक संस्कृत के अधिक निकट ले जाती है।
4. संस्कृत ऋ पैशाची में इ हो गया है। जैसे- यादृश:-यातिसो, तादृश:-तातिसो।
5. पैशाची में 'ञ' का प्रयोग मिलता है जो अद्भुत है। जैसे प्राज्ञ:पाञ्ञ, सर्वज्ञ:-सव्वञ्ञो, कन्यका-कञ्ञका, पुण्य-पुञ्ञ। आधुनिक मुलतानी और पंजाबी में यह विशेषता आज भी सुरक्षित है।

4. माहाराष्ट्री

पांचों साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ अपने-अपने कारणों से विशेष महत्वपूर्ण हैं। माहाराष्ट्री की भी यही स्थिति है। जहाँ पैशाची प्राकृत कालक्रम में सबसे प्राचीन प्राकृत होने के कारण, गुणाढ्य की 'वड्डकहा' के कारण और संस्कृत के उद्भवस्थल उदीच्यदेश की प्राकृत होने के कारण महत्वपूर्ण है तो वहाँ माहाराष्ट्री प्राकृत अपनी साहित्यिक क्षमताओं के कारण अन्य साहित्यिक प्राकृतों से श्रेष्ठतर मानी जाती है। सभी प्राकृत वैयाकरणों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसे सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माना है। काव्यादर्श में माहाराष्ट्री की प्रशंसा करते हुए दण्डी ने कहा है-

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।

चूँकि दण्डी स्वयं विदर्भ महाराष्ट्र के थे इस आधार पर उनकी इस प्रशंसा का महत्व कम नहीं हो जाता। दंडी अपने समय के एक बहुत ही सजग आचार्य थे जिन्होंने काव्यादर्श में ही काव्यशास्त्र के नियमों का विवेचन करने से पूर्व भाषा और वाङ्मय पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। जिस प्रकार संस्कृत के घर उदीच्यदेश की प्राकृत होने के कारण पैशाची को पर्याप्त सम्मान मिला, वैसे ही माहाराष्ट्री को बहुत अधिक सम्मान इसलिए मिला क्योंकि शब्दभण्डार की दृष्टि से इसे प्रारम्भ से ही संस्कृत के बहुत अधिक निकट माना जाता है। स्थिति यहाँ तक थी कि प्राचीन साहित्यकार एवं वैयाकरण जब कभी केवल 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग करते थे तो उससे तात्पर्य माहाराष्ट्री से ही कर लिया जाता था।

नामकरण से ही स्पष्ट है कि आधुनिक मराठी भाषी क्षेत्र ही प्राचीन काल में माहाराष्ट्री प्राकृत का भी क्षेत्र रहा होगा। दण्डी के उपर्युक्त कथन में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी माहाराष्ट्री को प्राकृत न मानकर पूरे भारत की भाषा माना हैं। ज़ूल ब्लोंख ने आधुनिक मराठी का विकास इसी के बोलचाल के रूप में माना है।

पिशेल की स्थापना है कि प्राचीन साहित्य में माहाराष्ट्री को अनेक स्थानों पर 'गाहा' कह दिया गया है। इसका कारण यह है कि महाकवि हाल ने माहाराष्ट्री में 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती) ग्रन्थ लिखा जो इतना प्रसिद्ध हुआ कि इस प्राकृत को ही गाहा कहा जाने लगा। मुद्राराक्षस में जो पद विशुद्ध माहाराष्ट्री में हैं उसे विराधगुप्त ने 'गाथा' कहकर मन्त्री राक्षस के पास भेजा था। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में शौरसेनी के मुकाबले गाथा अर्थात् माहाराष्ट्री बोलने वाले कुछ पात्रों का उल्लेख किया है-**आसाम् एवं तु गाथासु**।

अब तक यह माना जाता रहा है कि माहाराष्ट्री प्राकृत एक कृत्रिम और अस्वाभाविक भाषा थी। पर इस प्राकृत में इतना अधिक और उच्चकोटि का साहित्य प्राप्त हुआ है कि विद्वानों को यह धारणा बदलनी पड़ी है। प्राचीन काल में गीतों की भाषा निःसन्देह रूप से माहाराष्ट्री थी ऐसा पिशेल का मत है। मुद्राराक्षस और अभिज्ञानशाकुन्तलम् के गीत इसी प्रकृत में लिखे माने गए हैं। विशालभञ्जिका में गीतों के गाने जाने के लिए माहराष्ट्री के प्रयोग से इस प्राकृत की गीत सम्बन्धी प्राचीनता का आभास मिल ही जाता है।

परन्तु माहाराष्ट्री साहित्य में सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाम हाल का है जिसने 'गाहासत्तसई' लिख कर लोक में वही ख्याति अर्जित की है जो गीतगोविन्दकार जयदेव ने शास्त्रीय संगीत में की है। माहाराष्ट्री प्राकृत का भाषा के रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इस ग्रन्थ का महत्व बहुत अधिक है। इसके रचनाकाल की प्राचीनतम सीमा ईसा की तीसरी सदी मानी गई है। सत्तसई को देखने से ज्ञात हो जाता है कि इसमें बहुत ही समृद्ध साहित्य लिखा गया। अनेक साहित्यकारों के नाम इसके आधार पर ज्ञात होते हैं। कुछ टीकाकारों ने ऐसे 112 नामों की गणना की है। भुवनपाल ने 384 नाम दिए हैं। जिनमें सावाहन, शालिबास, शालाहण और हाल एक ही कवि के अनेक नाम हैं।

जयवल्लभ का वज्जालग्ग (वज्यालग्न) माहाराष्ट्री प्राकृत में लिखा दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जयवल्लभ श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का आचार्य था। प्रवरसेन का 'रावणवहो' (रावणवध) जिसका प्रचलित नाम सेतुबन्ध है, और वप्पर राम अर्थात् वाक्पतिराज का गौडवहो (गौडवध) माहाराष्ट्री प्राकृत की क्रमशः पांचवी और आठवीं शताब्दी में लिखी गई महत्वपूर्ण काव्यरचनाएं हैं। संस्कृत

नाटकों के प्राकृत पद्य प्रायः माहाराष्ट्री में ही लिखे गए हैं।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के कुछ धार्मिक ग्रन्थ माहाराष्ट्री प्राकृत में लिखे गए हैं। इस प्राकृत पर अर्ध मागधी का भी प्रभाव है। जैकोबी ने इसे 'जैनमाहाराष्ट्री' इस प्रकार से एक अलग नाम दिया है। इससे स्पष्ट है कि जैन मत का प्रचार इस प्राकृतभाषी क्षेत्र में कितना अधिक हो गया था।

माहाराष्ट्री प्राकृत इतनी अधिक परिनिष्ठित भाषा मानी गई है कि प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने इस प्राकृत के नियम सामान्यरूप से देकर शेष प्राकृत भाषाओं के नियम अपवाद स्वरूप दे दिये हैं। इस दृष्टि से इसका भाषाई महत्व संस्कृत के समकक्ष माना जा सकता है। इसकी कुछ विशिष्ट भाषाई विशेषताओं को इस प्रकार गिनाया जा सकता है-

1. माहाराष्ट्री प्राकृत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत व्यंजनों का कई प्रकार से और बहुत अधिक मात्रा में स्वरीकरण हो गया है। जैसे-माहाराष्ट्री कई, संस्कृत, पति, कपि, कवि, कृति। माहाराष्ट्री-काअ, संस्कृत-काक, काच, काय माहाराष्ट्री– सुअ संस्कृत-शुक, माहाराष्ट्री-सुत, संस्कृत-श्रुत। ऐसा माना जाता है कि चूँकि माहाराष्ट्री का प्रयोग गीतों में बहुत अधिक किया जाता था, इसलिए उनमें श्रुतिमाधुर्य लाने के लिए व्यंजनों को पकड़ पाने में बहुत कठिनाई हो जाती है।
2. अनेक शब्दों में महाप्राण स्पर्श व्यंजनों के स्थान पर केवल प्राणध्वनि ह् ही शेष रह गई है। जैसे-कथा-कहा, गाथा-गाहा, सुभगः-सुहवो, क्रोधः-कोहो।
3. ऊष्म ध्वनियां श् ष् स् भी प्रायः ह् में बदल गई हैं। जैसे दश-दह, पाषाण-पहाण, दिवस-दिअह।
4. क्ष् का परिवर्तन च्छ में हुआ है। जैसे-रक्षा-रच्छा।
5. र् का ल् हो जाता है।

5. शौरसेनी

साहित्यिक प्राकृत भाषाओं में तीसरा महत्वपूर्ण नाम शौरसेनी का है। प्राचीन काल में मध्यप्रदेश के एक विशिष्ट क्षेत्र को शूरसेन प्रदेश कहा जाता था जो मथुरा के आस पास था और मथुरा प्रमुख केन्द्र अथवा राजधानी के रूप में थी। इसी प्रदेश विशेष की भाषा होने के कारण इस प्राकृत का नाम शौरसेनी पड़ा है।

ऐसा माना गया है कि प्राचीनकाल में माहाराष्ट्री की अपेक्षा शौरसेनी अधिक प्रयोग और व्यवहार की भाषा थी। इस आधार पर माहाराष्ट्री की अपेक्षा इसके विषय में अधिक जानकारी होनी चाहिए। पर दो कारणों से शौरसेनी के सम्बन्ध में बहुत अल्प सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। पहला कारण यह है कि साहित्य के क्षेत्र में बहुत बढ़ी-चढ़ी होने के कारण माहाराष्ट्री इतनी अधिक परिनिष्ठित हो गई कि प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी का पृथक विवेचन करने की आवश्यकता ही कभी अनुभव नहीं की। दूसरा कारण यह है कि उदीच्यदेश से संस्कृत का प्रसार मध्यप्रदेश में हुआ। वहाँ संस्कृत इतनी अधिक और इतने लम्बे समय तक प्रभावशाली रही कि अन्य भाषाओं को पूरी तरह से विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। शौरसेनी के भी अस्त होने का यह एक कारण है।

माहाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों के सम्बन्ध को लेकर डॉ. मनमोहन घोष ने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रायः माहाराष्ट्री को महाराष्ट्र की और शौरसेनी को मध्य प्रदेश की भाषा माना जाता है और काल की दृष्टि से भी पांचों साहित्यिक प्राकृतें अत्याधिक समकालीन ही मानी जाती है। पर डॉ. घोष की स्थापना के अनुसार इन दोनों प्राकृतों में प्रयोग क्षेत्र का अन्तर नहीं अपितु कालगत अन्तर है। डॉ. घोष के मतानुसार ये दोनों भाषाएँ समान रूप से मध्य प्रदेश की भाषाएँ थी। इनमें से शौरसेनी प्राचीन और माहाराष्ट्री परवर्ती भाषा है। एक प्रकार से माहाराष्ट्री शौरसेनी का ही परिवर्तित और विकसित रूप है। डॉ. सुकुमार सेन भी इसी मत के हैं। यदि यह स्थापना ठीक है तो शौरसेनी को व्यवहार की और माहाराष्ट्री को उसका परिनिष्ठित रूप माना जा सकता है।

बड़ी विचित्र बात है कि प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी को कोई महत्व ही नहीं दिया है। वररुचि ने शौरसेनी के सम्बन्ध में दो बातें कही हैं। एक यह कि वे इसकी प्रकृति अर्थात् मूल संस्कृत को मानते हैं जो मध्य प्रदेश का संस्कृत केन्द्र बन जाने के कारण पैदा हुए प्रमाण की ओर स्पष्ट संकेत है। दूसरी बात यह है कि शौरसेनी के बारे में केवल 29 नियम अलग से देकर उन्होंने शेष सर्वत्र 'शेष माहाराष्ट्रीवत्' कहकर इसे निपटा दिया है। हेमचन्द्र ने भी इसके लिए केवल 27 नियम दिए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि व्याकरणिक विश्लेषण की दृष्टि से शौरसेनी का रूप बहुत अस्पष्ट हो गया और परवर्ती काल में इसे समझने में बहुत समस्याएँ आने लगीं। अवन्ती और आभीरी को शौरसेनी का स्थानीय रूप माना जाता है।

विद्वानों का मत है कि संस्कृत नाटकों में जहाँ पद्यभाग प्रायः अनिवार्य रूप से माहाराष्ट्री में है वहाँ उनका गद्यभाग प्रायः शौरसेनी में लिखा हुआ है। डॉ. मनमोहन घोष के कथनानुसार प्रायः सम्पूर्ण 'कर्पूरमंजरी' नाटक शौरसेनी में लिखा गया है। अश्वघोष के नाटकों में शौरसेनी के प्राचीनतम रूप मिल जाते हैं। जिस प्रकार माहाराष्ट्री में कुछ श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थ लिखे गए हैं, उसी प्रकार दिगम्बरी सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थों की रचना शौरसेनी में हुई। इसलिए इन दोनों प्राकृतों को क्रमशः 'श्वेताम्बरी प्राकृत

और दिगम्बरी प्राकृत' भी कहा जाता है।

शौरसेनी की कुछ प्रमुख भाषाई विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. त् का परिवर्तन प्रायः द् में हुआ है चाहे उसका प्रयोग किसी भी रूप में हुआ हो-जैसे-कौतूहलम्-कोदूहल, मातरम्-मादर, तावत्-ताव, दाव।
2. थ् का परिवर्तन ध् में हुआ है। जैसे-नाथःनाधो, पथः-पथो, पधो।
3. शौरसैनी में संस्कृत ध् का ह् में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। जैसे बधू-बहू, मधूक-महूको, युधिष्ठिर-जुहहिरो।
4. ज्ञ का प्रयोग पैशाची की अपेक्षा बहुत कम मिलता है जैसे-सर्वज्ञ-सब्बण्णो, इंगितज्ञ-इंगित।
5. कर्मवाच्य का य प्रत्यय अ ई में बदल गया है जैसे-गम्यते-गमीअदि, मन्यते-मनीअदि।

6. अर्धमागधी

अर्धमागधी जैन सम्प्रदाय की प्राकृत है। जैनियों में यह विश्वास प्रचलित है कि प्राणिमात्र की मूल भाषा अर्धमागधीं है जिसे न केवल मनुष्य बोलते हैं अपितु पशु-पक्षी भी समझते हैं। स्पष्ट ही यह विश्वास श्रद्धाप्रेरित है पर इससे इस सत्य पर प्रकाश पड़ता है कि किसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में अर्धमागधी का महत्वपूर्ण स्थान है। इस आधार पर जैकोबी ने इसे 'जैन प्राकृत' ही कह डाला है। जैन आचार्यों ने इसे 'आर्षम्' कहा है।

प्राचीन संदर्भों में जहाँ प्राकृत भाषाओं के मूल उद्भव की चर्चा हुई है, वहाँ प्रायः प्राकृतों के दो वर्ग बना दिए गए हैं-एक वर्ग उन प्राकृतों का है जिनका उद्भव संस्कृत में हैं जिसमें सभी प्राकृतों की गणना होती है, दूसरे वर्ग में अर्धमागधी की गणना होती है जिसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र भाषा माना गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत व्याकरण लिखने वाले प्रायः जैन आचार्य हैं जिन्होंने अर्धमागधी को अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने काव्यादर्श की टीका में एक उद्धरण दिया है -"**आर्षोत्थम् आर्षतुल्याम् च द्विविधं प्राकृतं विदुः**।" यह भी प्रायः कहा गया है कि भगवान् महावीर ने आर्ष अर्थात् अर्धमागधी में अपने धर्म का उपदेश किया था। समवायंगसुत्त में कहा है-"**भगवं व ण आद्धमागही ए भासाए धम्मं आइक्खइ**। अववाइअसुत्त में भी इसी भावना का पुनराख्यान किया गया है-"**तए णं समणे भगवं महावीरे. . . . अद्ध मागहाए भासाए भासइ**।" हेमचन्द्र भी ऐसा ही मानते हैं कि जैन आचार्य के प्राचीन सूत्र अर्धमागधी में रचे गए थे-"**पौराणं अकमागह मासा निययं हवइ सुत्तं**।" इन सभी सन्दर्भों से जैन परम्परा में अर्ध मागधी के विशेष स्थान की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। ऐसा माना जाता है कि अर्ध मागधी भाषा का प्रयोग उन प्रदेशों में होता था जिन्हें प्राचीन काल में काशी और कोशल प्रदेश कहा जाता था। अर्थात् मागधी और शौरसेनी भाषाओं के प्रयोग क्षेत्र के मध्य में इस भाषा का वर्चस्व रहा था। इसी क्षेत्रीय परिस्थिति का परिणाम है कि अर्धमागधी पर इन दोनों प्राकृतों का प्रभाव है। दूसी और क्रमदीश्वर का ऐसा मानना है कि अर्धमागधी माहाराष्ट्री और मागधी के मेल से बनी है-"महाराष्ट्री मिश्रार्धमागधी।"

भरत के नाट्यशास्त्र में सात प्रचलित प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं में अर्धमागधी की गणना की गई है और नाटकों में इसे नौकरों, राजपुत्रों ओर श्रेष्ठियों की भाषा माना गया है-"चेटानाम् राजपुत्राणां श्रेष्ठिनाम् चार्धमागधी" नाटकों में जैन पात्रों के मुख से अर्धमागधी का उच्चारण करवाया जाता होगा। जैसे -विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में जैन साधु क्षपणक की भाषा अर्धमागधी मानी गई है। जैनधर्म के दो सम्प्रदायों -श्वेताम्बर और दिगम्बर में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का साहित्य ही अधिकतर अर्धमागधी में प्राप्त होता है। संस्कृत नाटकों में इसका प्रयोग बहुत कम है। अश्वघोष और विशाखदत्त के नाटकों में ही उसका प्रयोग मिलता है। 1100 ई. के आस पास हुए कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय में भी इसका कहीं-कहीं प्रयोग मिल जाता है। अर्धमागधी की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. मागधी और अर्धमागधी में एक बड़ा अन्तर है कि जहाँ मागधी में र् को ल् और स् को श् हो जाते हैं वहां अर्धमागधी में र् और स् ही मिलते हैं। पिशेल ने इसे बहुत ही महत्वपूर्ण अन्तर माना है, पर अर्धमागधी में इसके अपवाद मिल जाते हैं। जैसे आकर-आगर, चरण-चलण।
2. श् और ष् का स् हो जाना सामान्य बात है। जैसे-आकाश-आगास, भिषक्-भिसअ।
3. क् का परिवर्तन ग् में हुआ है-आकाश-आगास, प्राकार-पगार।
4. मध्यवर्ती न् का ण् हो गया है। जैसे-स्नान-सिणाण, मदन-मयण, प्रश्न-प्रसिण।

7. मागधी

यद्यपि शेष चार प्राकृतों के समान मागधी को भी साहित्यिक प्राकृत भाषाओं में स्थान दिया गया है, परन्तु यदि तुलना करके देखें तो मागधी का स्थान सबसे कम महत्वपूर्ण है। प्रायः मागधी को भ्रान्तिवश बौद्धों की भाषा उसी प्रकार मान लिया जाता

है जैसे अर्धमागधी को जैनों की भाषा माना गया है। इस भ्रान्ति के दो कारण हैं। एक कारण यह है कि मागधी जिस मगध देश की भाषा थी, महात्मा बुद्ध भी उसी स्थान के थे इसलिए ऐसा समझा गया कि उन्होंने अपने उपदेश यहाँ की भाषा में दिए होंगे अतः पालि का प्रभाव मागधी पर रहा होगा। भ्रान्ति का दूसरा कारण यह है कि श्रीलंका मं पालि को मागधी ही कहा जाता है। परन्तु भाषाई सत्य यह है कि पालि और मागधी में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता।

प्राकृत भाषाओं के मानचित्र में मागधी के महत्वहीन होने का स्पष्ट प्रमाण यह है कि साहित्य में कहीं भी विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। मार्कण्डेय नेअपने व्याकरण में प्राचीन नाट्यशास्त्र आचार्य कोहल का मत उद्धत करते हुए कहा है कि मागधी प्राकृत राक्षसों, भिक्षुओं, क्षपणकों, दासों आदि द्वारा बोली जाती है। भरत के नाट्यशासत्र में और उसके अनुकरण पर विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में मागधी को अन्तःपुर के सेवकों की भाषा माना गया है। साहित्यदर्पणकार ने तो इसे नपुंसको, किरातों, म्लेच्छों, आभीरों, शकारों आदि की भाषा कह दिया है। दशरूपककार ने इसे पिशाचों और नीच जातियों की भाषा माना है। सरस्वतीकण्ठाभरण में भी मागधी को नीच जनों की भाषा कहा गया है। संस्कृत नाटकों में प्रतिहारी प्रायः यही भाषा बोलते हैं। इन सभी सन्दर्भों से स्पष्ट है कि मागधी का प्रयोग प्रायः समाज के उन वर्गों में होता था जिन्हे हम निम्न वर्ग कहते हैं। मृच्छकटिक इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। वहाँ शकार, उसका सेवक, स्थावरक, कुम्भीरक, वर्धमानक और बसन्तसेना तथा चारुदत्त के सेवक यही भाषा बोलते हैं। इसी आधार पर बाह्लीकी, ढक्की, शबरी और चाण्डाली को मागधी की बोलियाँ माना गया है।

मागधी की प्रमुख भाषाई विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. ष् और स् का परिवर्तन श् में हुआ है। जैसे पुरूषः- पुलिशे, हंसः-हंशे, एषः-एशे।
2. कहीं ष् का परिवर्तन स् में भी हुआ है। जैसे-कष्टम्-कस्ट, सुष्ठु-शुस्टु।
3. र् का ल् हो गया है। जैसे-राजा-लाजा, परिचयः-पलिचय, नरः-नले।
4. अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में ए का प्रयोग है। जैसे-देवः-देवे, नरः-नले, हंसः-हंशे।

पाठ-14

प्राकृत ध्वनियाँ और अभिलेखीय प्राकृत

खण्ड एक : प्राकृत ध्वनियाँ

पिछले पाठ में प्राकृत भाषाओं के इतिहास, प्राकृत शब्द का अर्थ, इस नामकरण का आधार तथा प्राकृत भाषाओं की संख्या के विवाद पर विचार किया गया था। यद्यपि प्राकृतों की निश्चित संख्या के विषय में, प्राचीन काल में कोई मतैक्य नहीं रहा है, पर आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में पाँच भाषाओं को साहित्यिक प्राकृत मानने पर लगभग पूर्ण सहमति है ये पाँच प्राकृत भाषाएँ हैं-पैशाची, माहाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी। पिछले पाठ में इन भाषाओं के नामकरण, प्रदेश, साहित्य और प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है। अब इनकी ध्वनियों का सामान्य विवेचन किया जायेगा।

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल एक इकाई के रूप में हमारे सामने आता है। इस काल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के रूप में और उनकी बोलियों और भाषारूपों के रूप में हमें एक भाषाई वैविध्य के भी दर्शन होते हैं, पर अन्ततः उनकी समग्र एकता में कोई सन्देह नहीं है। विशेषकर प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है। यदि प्राकृत भाषाओं के अनेक रूप हमें प्राप्त होते हैं तो स्पष्ट है कि उनमें केवल कालगत और स्थानगत अन्तर ही नहीं है उनमें भाषाई अन्तर भी है। पिछले पाठ में हमने प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत की प्रमुख भाषाई विशेषताएं हैं। और ये विशेषताएं बहुत अधिक हैं इन्हीं से सभी अलग प्राकृत भाषाओं का समान प्राकृतत्व निहित है।

प्रमुख रूप से प्राकृत ध्वनियों और गौण रूप से उनकी अन्यान्य भाषाई विशेषताओं का विवेचन करने से पूर्व हम छात्रों का ध्यान एक अन्य महत्वपूर्ण दिशा की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं। भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास को तीन काल खण्डों में स्पष्ट रूप में विभक्त किया जाता है-प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक। इन सबमें भाषाई वैविध्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और एक भाषा का दूसरी भाषा से अन्तर भी उसी अनुपात में बढ़ता गया है। जहाँ प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल में भाषाओं में यह पार्थक्य कम है और प्राचीन आर्यभाषाओं में तो बहुत ही कम है। यह भी हो सकता है कि यदि हमें पुरानी भाषाओं का संख्या सम्बन्धी और भाषासम्बन्धी पार्थक्य का ज्ञान अधिकाधिक कम है तो इसका कारण यह है कि हमारे पास उस समय की तथ्यात्मक जानकारी भी उत्तरोत्त कम होती गई है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण रहेगा कि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा क्राल चूँकि एक इकाई है, इसलिए उसमें भाषाई वैविध्य होने पर भी परिवर्तन और विकास की एक निश्चित दिशा है। उदाहरणतया-मध्यकालीन आर्यभाषा काल में संस्कृत का द्विवचन और नपुंसकलिंग उत्तरोत्तर लुप्त होते होते पूर्णतया समाप्त हो गया है। र् का परिवर्तन ल् की और य् का परिवर्तन ज् की ओर अग्रसर है। ध्वनियुग्मों और ऊष्मवर्णों में एक सरीखा परिवर्तन सम्पूर्ण मध्यकालीन आर्यभाषाकाल में उत्तरोत्तर आकार ग्रहण करता चला गया है। इसलिए विभिन्न प्राकृत भाषाओं में काल, प्रदेश और भाषाई वैविध्य और पार्थक्य होनेपर भी उन सभी में ध्वनिपरिवर्तन की दिशा और आयाम सामान हैं। इसलिए इन सभी साहित्यिक प्राकृत भाषाओं का ऐतिहासिक आधार पर विवेचन करने के बाद, उनकी अत्यन्त विशिष्ट भाषाई विशेषताओं की ओर संकेत करने के बाद भी यह आवश्यक है कि तमाम प्राकृत भाषाओं का समेकित ध्वनिविवेचन किया जाए।

प्राकृतक भाषाओं का समेतिक ध्वनिविवेचन करने के लिए हम संस्कृत को ही अपना आधार बनाकर उसकी तुलना में प्राकृतों में आए ध्वनिसंबंधी पदरचना सम्बन्धी और अवशिष्ट भाषाई परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे। इसका भी एक कारण है। चाहे इस बात पर अभी विवाद बना हुआ है कि क्या प्राकृतों का मूल संस्कृत भाषा है या उनका उद्भव किसी अन्य स्रोत से या स्वतन्त्र रूप से हुआ है, परन्तु अन्य किसी विशिष्ट अनुसन्धान जन्य निष्कर्ष के अभाव में अभी प्राकृतों के विकास का सम्बन्ध संस्कृत के साथ ही जोड़ा जाता है और इसी कारण भारत में तुलनात्मक भाषाविज्ञान का विकास संस्कृत को केन्द्र में रखकर हुआ है या हो रहा है। इसलिए प्राकृत भाषाओं में आए ध्वनि-सम्बन्धी और अन्य भाषाई परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन संस्कृत की ध्वनियों और अन्य भाषाई विशेषताओं को आधार बनाकर किया जायेगा।

1. प्राकृत स्वर

संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के स्वरों का अध्ययन करने से एक तथ्य स्पष्ट रूप से उभरता है कि पालि भाषा के समान प्राकृत भाषाओं में भी चार स्वरों का नितान्त अभाव है। वे हैं-ऋ लृ, ऐ और औ। इससे स्पष्ट है कि स्वर परिवर्तन की इस तुलनात्मक विशेषता के आधार पर पालि और प्राकृत भाषाएँ एक ही धरातल पर खड़ी होती नजर आती हैं। अगले पाठ में हम देखेंगे किस

प्रकार अपभ्रंश में भी यही विशेषता देखने में आती है। अकेली इसी ध्वनि-विशेषता के आधार पर मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा समूह को एक भाषाई इकाई माना जा सकता है।

जहाँ तक इन चार स्वरों का पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में समाप्त हो जाने का प्रश्न है उसका विश्लेषण हम तीन पक्षों के रूप में कर सकते हैं। एक पक्ष यह है कि लृ का प्रयोग वैदिक संस्कृत में ही कुछ सीमा तक प्राप्त होता है। लौकिक संस्कृत से ही वह लगभग लुप्त होता दिखाई दे जाता है। लौकिक संस्कृत में क्लृप् धातु में ही इसके दर्शन होते हैं और उसके भी एक कृदन्त रूप में यह उपलब्ध होता है। ये एक दो रूप लौकिक संस्कृत में लगभग प्रयोगातीत हो चुके हैं। स्थिति यहाँ तक है कि भट्टोजि दीक्षित को अपने ग्रन्थ वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में यण् सन्धि के विवेचन में लृ का कोई उदाहरण ही नहीं मिला और उन्होंने लृ + आकृति = लाकृति इस प्रकार द्रविड़ प्राणायाम कर एक उदाहरण टकसाली रूप में पेश किया।

ऋ की स्थिति इसकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। लौकिक संस्कृत में वैदिक संस्कृत के समान, ऋ का प्रयोग काफी मिलता है परन्तु जहाँ स्वरांकन प्रवृत्ति के कारण वैदिक संस्कृत में ऋ का उच्चारण सुरक्षित है वहाँ लौकिक संस्कृत में आकर इसका उच्चारण बदल गया, यद्यपि इसका लिखित आकार वैदिक संस्कृत के समान बना रहा है। उत्तर भारत में ऋ का उच्चारण रि में और दक्षिण भारत में ऋ का उच्चारण रू में होना प्रारम्भ हो चुका था केवल लिखने में इस उच्चारण को वैसा आकार नहीं मिला। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की विशेषता यह है कि इस भाषावर्ग में यह लिखित में भी आ गया है।

जहाँ तक ऐ और औ इन दो वृद्धि रूपों वाले ध्वनियुग्मों का प्रश्न है, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषावर्ग में इसकी उपलब्धि पहली बार परिवर्तित आकार में प्राप्त होती है। इन चार स्वरों के अतिरिक्त संस्कृत के शेष सभी स्वर प्राकृत भाषाओं में मिल जाते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इन स्वरों के अनेक रूपान्तर प्राप्त होते हैं। संस्कृत की तुलना में प्राकृत भाषाओं में प्राप्त होने वाले स्वरों का अध्ययन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है।

1. संस्कृत अ प्राकृत भाषाओं में निम्नलिखित रूपों में प्राप्त होता है:-
   अ-अ = अर्थ-अट्ठ, परशु, फरसु।
   अ-इ = ईषत्-ईसि, वेतस्-वेडिसो, अगार:-इंगालो।
   अ-उ = गवय-गउओ, प्रथम-पुथम।
   अ-ए = शय्या-सेज्जा, कन्दुक-गेन्दुअ।
   अ-ओ = मयूर-मोर, लवण-लोण।
2. कुछ उदाहरणों में संस्कृत का आ प्राकृत भाषाओं में इ हो जाता है। जैसे-यदा-जइ, तदा-तइ।
3. आ का प्राकृत रूपान्तरण ए और ओ में भी होता है। जैसे-ग्राह्य-गेज्झ, मात्र-मेत्त, आलि-ओलि।
4. संस्कृत इ की प्राकृत में निम्नलिखित रूपों में प्राप्ति होती है।
   इ-अ = हरिद्रा-हलद्दा, हलद।
   इ-ए = कीदृश:- केकरसो, ईदृश:-एरिसो।
5. संस्कृत उ का परिवर्तन कुछ उदाहरणों में इ में होता है तो कुछ उदाहरणों में वह ए हो जाता है। जैसे पुरुष-पुलिस, नुपुर-णेउर। अपश्रुति की दृष्टि से हम इसे परिवर्तन कह सकते हैं।
6. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत ऋ का प्राकृत भाषाओं में परिवर्तन कई रूपों में होता है। जैसे-
   ऋ-अ = वृषभ-वराह, तृण-तण।
   ऋ-इ = दृष्टि-दिट्ठी, वृश्चिक-बिछुओ।
   ऋ-उ = प्रावृष्-पाउसो।
   ऋ-रि = ऋतु-रितु, ऋण-रिण, ऋक्ष-रिच्छ।
   ऋ-रु = वृक्ष-रुख, रुक्ख।
7. प्राय: संस्कृत ए प्राकृत में ए ही मिलता है। जैसे एक-एक्क। कई बार ए के स्थान पर इ का प्रयोग मिलता है। जैसे -वेदना-विअणा, देवर-दिअरो।
8. प्राकृत में ऐ का अभाव है। उसका परिवर्तन अनिवार्यत: ए में हो जाता है। जैसे-त्रैलोक्य-तेलोक्क, शैल-सेल। परन्तु ध्यान रहे कि ए और ऐ ध्वनियुग्म हैं जो अ + इ के संयोग से क्रमश: गुण और वृद्धि के रूप में होते हैं। इसलिए कई उदाहरणों में ऐ का परिवर्तन अपने मूल सन्धिविहीन रूप अर्थात् अई में हो जाता है। जैसे-दैत्य-दइच्च, चैत्र-चइत्त, भैरव-भइरव, इत्यादि। यह प्रवृत्ति प्राकृत भाषाओं को अवेस्ता के निकट ले जाती है। जैसे-संस्कृत एतत् का परिवर्तन अवेस्ता में अइतत् के रूप में होता है।

9. ए के समान संस्कृत ओ भी प्राकृत में उसी रूप में मिल जाता है। जैसे-ओजः-ओजो, बोधः-बोधो।
10. पर प्राकृत भाषाओं में ऐ के समान औ का नितान्त अभाव है और उसका अनिवार्यतः ओ हो जाता है। जैसे कौशाम्बी-कोसाम्बी, यौवन-जोव्बण। कुछ उदाहरणों में यह परिवर्तन और भी अधिक होता है और औ का अउ हो जाता है। जैसे-कौरव-कउरव, पौरुष-पउरस, वगैरह।

इस प्रकार हमने सामान्य रूप से यह जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार संस्कृत की ध्वनियाँ प्राकृत में अनेक रूपों में बदल जाती है। पर इन सामान्य परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ विशेष परिवर्तन भी हैं जिनका निरुपण हम स्वरपरिवर्तन के नियमों के रूप में कर सकते हैं।

1. संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों का प्राकृतों में परिवर्तन करते समय यदि समीकरण की सहायता से सरलीकरण हो जाता है, अर्थात् संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाता है तो उससे पूर्ववर्ती स्वर को अनिवार्यतः दीर्घ हो जाता है। जैसे विश्रामः-वीसामो, विश्वासः-वीसासो, दक्षिणः-दाहिणो, प्रति-पाउ।
2. इसके अतिरिक्त यदि संयुक्त अक्षर की संयुक्तता बनी रहती है तो उससे पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर की प्राप्ति ह्रस्व में हो जाती है। जैसे आम्र-अम्ब, चूण-चुण्ण, नरेन्द्रः-नरिन्दो, मुनीन्द्रः-मुनिन्दो।
3. अनुस्वार वाले संस्कृत अक्षरों के प्राकृत रूपान्तरण में यदि अनुस्वार का लोप हो जाता है तो उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है। जैसे-विंशति-वीसी, त्रिंशत्-तीसो, सिंहः-सीहो।
4. वैसे प्राकृत भाषाओं में स्वर बिना किसी विशेष कारण के भी ह्रस्व दीर्घ होते रहते हैं।
5. कभी कभी संस्कृत के अव और अय के स्थान पर प्राकृत में क्रमशः ओ और ए हो जाते हैं। जैसे-स्थाविरः-थेरो, त्रयोदशः-तेरह, अवसर्प-ओसप्प।
6. कई बार ओ और ए अपने दुर्बल रूपों में भी प्राप्त हो जाते हैं। जैसे-श्रेष्ठ-उट्ठ।
7. प्राकृत भाषाओं में कई बार बिना किसी विशेष परिस्थिति के भी प्रारम्भिक स्वर का लोप हो जाता है। जैसे-अरण्यम्-रण्यं, अपि-पि अथवा वि, इव-व इत्यादि।

इस प्रकार संस्कृत स्वरों का प्राकृत में रूपान्तर कई तरह से मिलता है। आगे व्यंजनों की तुलना की जा रही है।

2. प्राकृत व्यंजन

जिस प्रकार प्राकृत स्वरों की विशेषता यह है कि उनमें के ऋ, लृ, ऐ, औ के अलावा शेष सभी स्वर वहाँ मिल जाते हैं, उसी प्रकार की स्थिति प्राकृत व्यंजनों की भी है। माहाराष्ट्री को छोड़कर शेष सभी प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के ऊष्म श् और ष् का अभाव है और वे स् बन जाते है या वे कहीं कहीं ह् में बदल जाते हैं। माहाराष्ट्री में श् मिलता है और कुछ उदाहरणों में वहाँ स् का भी श् हो जाता है। संस्कृत और प्राकृत व्यंजनों के इस अध्ययन में पहले अल्पप्राण व्यंजनों की पृथक-पृथक तुलना की जायेगी और फिर महाप्राण, अन्तःस्थ और ऊष्म व्यंजनों की तुलना कर कुछ सामान्य ध्वनिनियमों का विश्लेषण किया जायेगा।

1. संस्कृत क् प्राकृत में प्रायः क् ही रहता है। जैसे-आकाश-आकास, अकास, पर कई उदाहरणों में उसका च् में परिवर्तन होता है। जैसे-किरातः= चिलाओ, कई बार ख में जैसे-कुबुलः-खुज्जो और कई बार ग् में परिवर्तन हो जाता है, जैसे-कन्दुक गेन्दुअ।
2. कुछ विशेष परिस्थतियों को छोड़ दें, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा, तो संस्कृत ग् प्राकृत में भी ग् ही रहता है। जैसे-गजः-गओ, नाग-नाग, गीत-गीत। पर कुछ उदाहरणों में वह क् भी बन जाता है। जैसे-गगन-ककन, गिरितट-किरिटट, गंड-कंट।
3. संस्कृत च् प्राकृत में प्रायः नहीं बदलता। जैसे-चलति-चलइ, पिशाच-पिसाच।
4. संस्कृत ज् का ज् भी मिलता है तो कहीं कही उसके स्थान पर य् भी हो जाता है। जैसे-जानति-जाणइ, किन्तु जाने-याणे, ज्ञातव्यम्-याणिदव्वं, जलधर-यलहल।
5. संस्कृत प् के प्राकृत भाषाओं में कई रूप मिलते हैं। कुछ उदाहरणों में प् का प् ही मिलता है जैसे-स्वप्न-सुपिण, प्रारब्ध-पाराद्धि। पर प्रायः उसका परिवर्तन व् और म् में हो जाता है। जेसे-शापः-सावो, पापः-पावो, और कुणप-कुणिभ, नीप-णीम-णीव। कुछ और मिले जुले उदाहरण इस प्रकार हैं। जैसे-विटप-विडप, आपीउच-आमेक, भिण्डिपाल-भिण्डिमाल इत्यादि।
6. प् के समान संस्कृत ब् भी प्राकृत में कई रूपों में मिलता है। जैसे-बदर-बोर, ब्राहण-बम्हण, परन्तु कबन्ध-कमन्ध, शबर-सबर और समर।
7. संस्कृत त् भी प्राकृतों में कई रूपों में मिलता है। कहीं वह त् ही रहता है, जैसे-सप्त-सत्त, तादृश-तरिसो। पर कुछ उदाहरणों

में त् का ट् और ल् मिल जाते हैं। जेसे-प्रकृत-पकट, विकृत-विकट किन्तु असित आसिल, पलित-पलिल, इत्यादि।

8. संस्कृत द् प्राकृत भाषाओं में प्रायः द् ही रहता है। जैसे-दशन-दहन, दंश-दंस, कंदुक-गेदुअ। पर कुछ उदाहरणों में द् के स्थान पर ड् मिलता है। जैसे-दम्भ-दम्भ, पर दाम्भिक डाम्भिक, दहन-डहन, दोला-डोला, दोहद-डोहल।

हमने ऊपर कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, और पवर्ग के प्रथम और तृतीय व्यंजनवर्णों का अध्ययन कर यह देखा है कि प्राकृत भाषाओं में ये वर्ण प्रायः वैसे ही मिलते हैं और कुछ उदाहरणों में उनमें परिवर्तन भी हो जाता है। पर इन परिवर्तनों को सामान्य परिवर्तन ही माना जाएगा कोई विशेष परिवर्तन नहीं। संस्कृत में प्राकृत रूपान्तरों में कुछ परिवर्तन विशेष प्रकार के हैं और विशेष प्रकार के ध्वनिनियम भी हैं जिनकी सहायता से संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के व्यंजनों का पारस्परिक रूपान्तरण करना सम्भव है। अब इन्हीं विशेष परिवर्तनों और परिवर्तन के कुछ नियमों का संक्षेप में अध्ययन किया जायेगा।

1. अधिकांश प्राकृत भाषाओं में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि उनमें संस्कृत शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजन का प्रायः लोप हो जाता है। जैसे-लोकः-लोओ, नगरं-नअरं, गजः-गओ, रिपुः-रिउ।
2. यही प्रवृत्ति उन शब्दों में भी देखी जाती है जिनमें म् का प्रयोग मध्यवर्ती वर्ण के रूप में हुआ है। पर अन्तर केवल इतना है कि म् का लोप तो हो जाता है किन्तु वह अपना अनुनासिकत्व बनाए रखता है। जैसे-संस्कृत यमुना-प्राकृत जँउणा। इसमें यमुना के 'म्' का तो लोप हो गया है पर प्राकृत में जँउणा में जँ के ऊपर जो अनुनासिक है वह म् का अवशेष है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि संस्कृत यमुना में य् के ऊपर कोई अनुनासिक नहीं है।
3. कुछ उदाहरणों में जहाँ संस्कृत शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजन वर्ण का लोप हो जाता है वहां प्राकृत में उसके स्थान पर य् का उच्चारण देखने को मिलता है। जैसे-नगर-नअर और नयर, मदनः-मयणों, कचग्रहः-कयग्गाहो। भाषाविज्ञान में इसे यश्रुति कहा गया है। वास्तव में यश्रुति, यह शब्द प्राकृत वैयाकरणों का दिया हुआ है।
4. संस्कृत टवर्ग प्राकृत भाषाओं में कई प्रकार से बदल जाता है। जहाँ संस्कृत ट् प्राकृत में ड् बन जाता है, जेसे-घटः-घडो, कपटः-कप्पडो, इत्यादि वहाँ संस्कृत ड् प्राकृत में ल् बन जाता है। जैसे-क्रीडति-खेलइ, तडागः-तलाओ, दाडिम-दालिम्ब, इत्यादि।
5. अन्य प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा पैशाची की यह विशेषता है कि उसमें संस्कृत के घोष व्यंजनों का प्रायः अघोष व्यंजनों में परिवर्तन हो जाता है। जेसे -गिरि-किरि, दामोदरः-तामोतरः, नगर-नकर, इत्यादि।

   संस्कृत की तुलना में लगभग सभी प्रकृतों में एक समान विशेषता पाई जाती है कि वहाँ घोष और अघोष महाप्राणों के स्थान पर ह् शेष रहता है। जैसे मेघः-मेहो, नाथः-नाहो, बधिरः-बहिरो, कथन-कहण, कथा-कहा, इत्यादि।
7. परन्तु पैशाची में घोष महाप्राण कई बार अघोष महाप्राण में बदल जाते हैं। जैसे मधुरं-मथुरं, गाढः-काठो।
8. संस्कृत में पांच अनुनासिक है ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, प्राकृतों में इनकी उपलब्धि विभिन्न प्रकार से मिलती है। जैसे-पैशाची में प्रायः न् ही मिलता है जबकि अन्य प्राकृतों में प्रायः न् और कहीं-कहीं ञ् भी मिल जाता है। एक विशेष बात यह है कि जहाँ संस्कृत में ण् का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता प्राकृत भाषाओं में यह शब्द के आदि, मध्य और अन्त में कहीं भी मिल जाता है। प्राकृत के णअर शब्द की संस्कृत में कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुछ उदाहरणें में भ् की भी यही स्थिति है।
9. र् लो लेकर दो स्थितियाँ हैं। संस्कृत र् सभी प्राकृतों में र् ही रहता है, पर माहाराष्ट्री में यह अनिवार्यतः ल् हो जाता है। जैसे नगरं-नअरं, नयरं या णअरं, रमणी-रयणी, वरुणः-वरुणो, पर माहाराष्ट्री में चरणः-चलणो, पुरुषः-पुलिसो, जठरं-जढलं।
10. इसके विपरीत संस्कृत ल् प्राकृतों में कभी-कभी न् या ण् हो जाता है। जैसे-ललाट-नलाट या णलाट, लांगलं = णंगलं।
11. संस्कृत के तीनों ऊष्म-श् ष् और स्, प्राकृतों में केवल स् के रूप में मिलते हैं। जैसे-यादृशः- येरिसो, तादृशः-तेरिसो, पुरुषः-पुरिसो, पुलिसो। पर कुछ उदाहरणें में वह ह् बन जाता है। जैसे-धनुष-धनुह, स्नुषा-सोण्हा, तृष्णा-तण्हा। पर ऐसा प्रतीत होता है कि ष् का ह् में परिवर्तन सीधा नहीं हुआ होगा। यह ष् के ल् में रूपान्तरण के बाद हुआ होगा, क्योंकि संस्कृत स् प्रायः प्राकृत भाषाओं में ह् बन जाता है। जेसे-दिवस-दिअह, सप्तति-हत्तइ। ष् के स्थान पर कई बार छ् भी मिलता है। जैसे- पष्ठ-छट्ठो, षण्मुखः-छम्मुहो।
12. प्राकृत भाषाओं में समीकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक मिलती है। संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों का प्राकृत भाषाओं में प्रायः समीकरण हो जाता है अर्थात् दोनों व्यंजन ध्वनियाँ अलग-अलग रहने के बजाए एकसरीखी हो जाती हैं। जैसे- धर्म-धम्म, चक्र-चक्क, कपर्द-कवड्ड, कंदर्प-कंदप्प, दृष्टि-दिटिठ, इत्यादि।
13. कहीं कहीं स्वर भक्ति की सहायता से संयुक्त व्यंजनों को प्राकृत भाषाओं में सरल बना दिया जाता है। जैसे-स्नान-सिनान, कृष्ण-कसिन, उष्ण-उसिन, भार्या-भरिया, कष्ट-कसट।
14. कुछ उदाहरणों में प्राकृत में संस्कृत ह्रस्व का दीर्घीकरण हो जाता है। पर यह क्षतिपूर्त्ति के रूप में ही है। अर्थात् संयुक्त

व्यंजनों वाले संस्कृत शब्दों का लोप हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में पहले स्वर का दीर्घीकरण हो जाता है। जैसे-विश्राम-वीसामो, निश्वास-नीसासो, शिष्य-सीसो।

3. प्राकृत शब्द रूप

इससे पूर्व कि हम संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के शब्द रूपों के तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करें, कुछ सामान्य विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। वैसे इनमें से अधिकांश विशेषताओं का निरूपण संस्कृत और पालि शब्दरूपों के तुलनात्मक अध्ययन के समय किया जा चुका है, पर प्रसंगवश उनका फिर से संक्षेप में संकेत करना आवश्यक है।

1. जहाँ तक शब्दरूपों का प्रश्न है, प्रायः सभी प्राकृत भाषाओं में परिवर्तन समान रूप से प्राप्त होते हैं। यदि एक प्राकृत के शब्दरूपों में किसी अन्य प्राकृत के शब्दरूपों की अपेक्षा कोई अन्तर है तो वह ध्वन्यात्मक विशेषताओं के कारण है। उदाहरणतया, यदि संस्कृत 'पुरुष' शब्द का रूपान्तरण सभी प्राकृतों में पुरिश या पुरिस के रूप में मिलता है, परन्तु माहाराष्ट्री में वह पुलिस मिलता है तो इसका एकमात्र कारण, जैसा कि इसी पाठ में पहले भी कह आए हैं यह है कि संस्कृत र् जहां अन्य प्राकृतों में र् ही रहता है वहाँ माहाराष्ट्री में वह ल् बन जाता है।
2. संस्कृत में शब्द दो प्रकार के हैं -अजन्त अर्थात् स्वरान्त और हलन्त अर्थात् व्यंजनान्त। प्राकृत में व्यंजनान्त रूप लुप्त हो गए हैं और सभी स्वरान्त हो गए हैं। प्राकृत में प्रायः सभी व्यंजनान्त शब्द ओकारान्त हो गए हैं। जैसे-विपद्-विपओ, धर्मविद्-धम्मविओ, तेजस्-तेजो, शरद्-सरओ। इस दृष्टि से प्राकृत भाषाओं और पालि में एक स्पष्ट भेद है। जहाँ पालि भाषा में संस्कृत के राम, नर, देव जैसे शब्द भी राम्, नर्, देव्, आदि के रूप में व्यंजनान्त हो गए हैं वहाँ प्राकृत में हलन्त शब्दों का लगभग अभाव हो गया है।
3. सर्वनामों के प्रयोग में भी संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ संस्कृत में सामान्य संज्ञा रूपों की तरह सर्वनाम रूपों के भी तीनों लिंग मिलते हैं-पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नुपंसकलिंग, वहाँ प्राकृत में केवल एक ही रूप मिलता है जो सभी लिंगों के लिए समान रूप से काम आता है। उदाहरणतया, जैसे इदम् शब्द के संस्कृत में अयम् (पुल्लिग), इयम् स्त्रीलिंग और इदम् नपुंसकलिंग ये तीनों रूप मिलते हैं, वहाँ प्राकृत में इन सब के लिए एक ही रूप मिलता है-अयम्।
4. सामान्य संज्ञा रूपों में भी सर्वनाम रूपों के समान लिंग की विविधता पर बहुत बल नहीं है। जैसे-संस्कृत-तुंगं मनः, प्राकृत-तुङ् गोमणो, तपः कृतम्-तवो कओ।
5. प्राकृतों में द्विवचन नहीं है, पालि का विवेचन करते समय हम काफी विस्तार से समझा आए हैं कि किस प्रकार वैदिक संस्कृत से विशेष स्थान प्राप्त कर पैदा हुआ द्विवचन लौकिक संस्कृत में ही संकुचित होना शुरु हो गया था और मध्यकालीन भारतीय भारीय आर्यभाषाकाल तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो गया।

इस सर्वसामान्य पृष्ठभूमि के साथ हम दो उदाहरणों की सहायता से संस्कृत और प्राकृत के शब्द रूपों की तुलना करते हैं:-

1. संस्कृत पुत्रं-प्राकृत पुत्तं

एक वचन	बहुवचन
प्रथमा = पुत्रः-पुत्तो, पुत्ते	पुत्राः = पुत्ता
द्वितीया = पुत्रम्-पुत्तं	पुत्रान्-पुत्ते, पुत्ता
तृतीया = पुत्रेण-पुत्तेण, पुत्तेण	पुत्रैः-पुत्तेहि
चतुर्थी = पुत्राय-पुत्ता	पुत्रेभ्यः-पुत्ताहुंतो
पंचमी = पुत्रात्-पुत्ता, पुत्ताउ	पुत्रेभ्यः-पुत्ताहुंतो
षष्ठी = पुत्रस्य-पुत्तस्स	पुत्राणाम्-पुत्ताणं
सप्तमी-पुत्रे-पुत्ते	पुत्रेषु-पुत्तेसं

2. संस्कृत माला-प्राकृत माला

एक वचन	बहुवचन
प्रथमा = माला-माला	मालाः-मालाओ, मालाउ
द्वितीया = मालाम्-मालम्	मालाः-मालाओ
तृतीया = मालाया-मालाए, मालाइ	मालाभिः-मालाहिं, मालाहि
चतुर्थी = मालायै-मालाओ	मालाभ्यः-मालाहिंतो

पंचमी = मालायाः-मालाओ	मालाभ्यःमालाहिंतो
षष्ठी = मालायाः = मालाए	मालाभ्यः-मालाणं, मालाण
सप्तमी = मालायाम्-मालाए	मालासु-मालासु, मालासुं

शब्दरूपों के इन दो उदाहरणों में जिन विभक्ति प्रत्ययों कीसहायता से प्राकृत शब्दरूपों की रचना प्रस्तुत की गई है उन्हें प्रमुख रूप से प्रयुक्त विभक्ति प्रत्यय जानकर ही चलना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक प्राकृत में कुछ रूपरचनाओं में अपने ही प्रत्ययों की एक अलग से विशेषता भी मिलती है।

3. जहाँ तक प्राकृत भाषाओं के सर्वनाम शब्दों के शब्दरूपों का प्रश्न है उनका विहंगम सर्वेक्षण ही पर्याप्त रहेगा। संस्कृत के सर्वनामों के प्राकृत रुपान्तरण निम्नलिखित हैं। जैसे -अहम्-अहं, त्वं-तुं, सः-से, सा-साए, एतत्-यत् इत्यादि सर्वनाम प्राकृतों में मिलते हैं। इनकी रूपरचना में बड़ी ही भारी रूप समृद्धि के दर्शन होते हैं।

प्राकृत संख्या पद संस्कृत संख्या पदों से मिलते हैं। केवल ध्वनिपरिवर्तन ही वहाँ मिल जाता है। जैसे-एक्क, दो तितआ-, चतारो, पच्च, छ, सत्त, अट्ठ, नव, दह। ये प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाले रूप हैं। इनमें से प्रत्येक के अनेक रूपान्तरण मिल जाते हैं।

4. प्राकृत धातुरूप

जिस प्रकार प्राकृत शब्दरूपों की अनेक विशेषताएं हैं उसी प्रकार प्राकृत धातुरूपों की भी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। जैसे-

1. प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के आत्मनेपदी रूपों का बिल्कुल लोप हो गया है।
2. जिस प्रकार शब्दरूपों में द्विवचन नहीं है उसी प्रकार धातुरूपों में भी द्विवचन का अभाव है।
3. लेट् लकार का अभाव तो लौकिक संस्कृत में ही हो गया था, इसलिए यहां उसके होने का प्रश्न ही नहीं उठता।
4. कालवाची रूपों में हेतुहेतुमद् भाववाची लृङ् छोड़ दिया गया है। भूतकाल में लङ्, लुङ और लिट्-इन तीनों ही भूतकालवाची रूपों को छोड़ दिया गया है। प्राकृत भाषाओं में भूतकाल का प्रयोग अब अधिकाधिक भूतकालवाची कृदन्त प्रत्ययों की सहायता से होता है।
5. तीनों पुरुषों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त होता है। हेमचन्द्र के अनुसार प्रथम पुरुष के लिए इ, ए और न्ति, मध्यम पुरुष के लिए सि, हि और त्था, थ तथा उत्तम पुरुष के लिए भि, म्हि और म्हं, म्हो का प्रयोग प्राकृत भाषाओं में धातु प्रत्ययों के रूप में होता है।

खण्ड दो : अभिलेखीय प्राकृत

इसे भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की विडम्बना ही माना जाना चाहिए कि हम जिसे अभिलेखीय प्राकृत भाषा मानते हैं और उसकी गणना मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के प्राकृत उपकाल (500 ई. तक) में रखते हैं, वास्तव में उसका ऐतिहासिक कालक्रम पालि उपकाल (500 ई.पू. से पहली सदी ई तक) में स्थापित किया जाता है। विडम्बना यह है कि पालि उपकाल में रहते हुए भी हम इसका नामकरण प्राकृत की परिधि में रखकर करते हैं।

इसका एक विशेष कारण है। यद्यपि मध्यकालीन-भारतीय आर्य भाषाकाल (500 ई.पू. 1000) अपने आप में एक इकाई है पर फिर भी मुख्य रूप से इसमें तीन भाषाएं मिलती हैं-पालि, प्राकृत, अपभ्रंश। अभिलेखीय प्राकृत के नाम से हम जिस भाषा का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ करने जा रहे हैं उसकी भाषाई विशेषताएँ जहाँ एक ओर पालि से मिलती हैं तो दूसरी ओर उनकी समानताएँ प्राकृत भाषाओं से भी हैं। इसलिए हम उस भाषा को सीधे सीधे पालि अथवा प्राकृत न कहकर अभिलेखीय प्राकृत कहते हैं।

इसे अभिलेखीय प्राकृत कहने का कारण यह है कि अशोक के शिलालेखों और दूसरे शिलालेखों में प्राकृत के लगभग समान इस भाषा का प्रयोग मिलता है। अशोक ने भारत के विभिन्न भागों में शिलाओं पर लेख उत्कीर्ण करवाए थे। जिस भी क्षेत्र में जो शिलालेख खुदवाया गया उसकी भाषा में वहाँ की भाषा और बोलियों का प्रभाव पड़ा, पर आधारभूत रूप में उन सभी में एक ही भाषा का प्रयोग है जिसका भाषा वैज्ञानिकों ने अभिलेखीय प्राकृत नामकरण किया है।

अशोक ने 272 ई.पू. राज्यारोहण किया, पर अनेक राजनीतिक कारणों से उसका राज्याभिषेक 268 ई.पू. में हुआ। कलिंग विजय के उपरान्त जब अशोक महात्मा बुद्ध के उपदेशों का अनुयायी बन गया तो करुणावश होकर उसने जनसामान्य के लाभ के लिए शिलालेख खुदवाए। इस प्रकार इन शिलालेखों में प्रयुक्त अभिलेखीय प्राकृत का समय तीसरी शताब्दी ई.पू. माना जाएगा।

अशोक के इन अभिलेखों के आधार पर भाषा वैज्ञानिकों ने उस समय कम से कम तीन बोलियों का अस्तित्व स्वीकार किया है। ये तीन बोलियाँ इस प्रकार हैं-

1. पश्चिमोत्तर बोली, जो शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के अभिलेखों में प्रयुक्त हुई,
2. दक्षिण पश्चिमी बोली, जो गिरनार कालसी आदि के लेखों में प्रयुक्त है, और
3. पूर्वी बोली जो उड़ीसा के धौली, जौगड़ आदि के अभिलेखों में प्रयुक्त है।

इनकी ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं।

1. पश्चिमोत्तर बोली

अभिलेखीय प्राकृत की पश्चिमोत्तरी बोली दो स्थानों पर प्राप्त शिलालेखों में मिलती है -मनसेरा और शाहबाजगढ़ी। इनमें से मनसेरा या मानसेरेरा अविभक्त पंजाब के उत्तरी भाग में एबटाबाद के पास है। मनसेरा अटक के पास है। यहाँ के शिलालेखों की भाषा पश्चिमोत्तरी बोली के अधिक निकट है। पश्चिमोत्तरी बोली की महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं। जैसे-

1. इस बोली में ऐ और औ क्रमशः ए और ओ में बदल जाते हैं। जैसे-तवै-तवे, पौत्र-पोत।
2. अन्य प्राकृतों के समान इसमें भी ऋ का परिवर्तन रु, रि, र में हो जाता है।
3. पश्चिमोत्तरी बोली में संस्कृत र् का परिवर्तन ल् में नहीं होता।
4. संस्कृत की अनुनासिक ध्वनियाँ ञ् और ण् मिलती हैं। जैसे-राजा-रञा, कल्याण-कलाण।
5. जहाँ अन्य प्राकृतों में ऊष्म ध्वनियाँ श् ष् और स् का स् रूप मिलता है वहाँ पश्चिमोत्तरी बोली में श् ष् और स् तीनों ही ध्वनियाँ पृथक् रूप से मिलती हैं।
6. वास्तव में पश्चिमोत्तरी बोली पैशाची प्राकृत के प्रयोग क्षेत्र की बोली है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इन दोनों में भाषाई समानताएँ हों। उदाहरणतया , पैशाची के समान पश्चिमोत्तरी बोली में घोष व्यंजनों का अघोषीकरण हो जाता है। जैसे-मग-मक।
7. इस बोली की शब्द रचना और धातुरूप रचना में मध्यकालीन अन्य भाषाओं की सभी विशेषताएँ जैसे द्विवचन का लोप, मध्यम पुरुष का लोप, प्राप्त होती है।

2. दक्षिण पश्चिमी बोली

अभिलेखीय प्राकृत की दक्षिण पश्चिमी बोली गिरनार, कालसी आदि के शिलालेखों में मिलती है। जहाँ पश्चिमोत्तरी बोली के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं, वहाँ दक्षिण पश्चिमी बोली के ब्राह्मी लिपि में हैं। इसकी प्रमुख भाषाई विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. संस्कृत ध्वनियुग्म ऐ और औ, गुण रूपों ए और ओ में बदल जाते हैं।
2. ऋ का परिवर्तन अ में होता है।
3. श्, ष्, स् सुरक्षित रूप से मिल जाते हैं जबकि साहित्यिक प्राकृतों में उनका परिवर्तन स् में हो जाता है।
4. एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि साहित्यिक प्राकृत माहाराष्ट्री इसी क्षेत्र की भाषा मानी गई है। परन्तु जहाँ माहाराष्ट्री में र् का परिर्वतन ल् में हो जाता है वहाँ शिलालेखीय प्राकृत की दक्षिण पश्चिमी बोली में र् अपने रूप में ही अपरिवर्तित अर्थात् र् ही रहता है।

3. पूर्वी बोली

अभिलेखीय प्राकृत की पूर्वी बोली के शिलालेख उड़ीसा के धौली (कटक जिला) और जौगड़ (गंजाम जिला) में मिलते हैं और दक्षिण बोली में लिखे शिलालेखों के समान ब्राह्मी लिपि में हैं। इसकी ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ अभिलेखीय प्राकृत की दूसरी बोलियों के समान ही हैं, केवल तीन विशेषताओं को उल्लेखनीय महत्व मिल सकता है। जैसे-

1. पूर्वी बोली में ऋ के स्थान पर प्रायः इ मिलता है। जैसे-मृग-मिग।
2. र् का परिवर्तन ल् में हो जाता है।
3. सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ष् और स् के स्थान पर तालव्य श् मिलता है। जैसे-देवदासी-देवदाशि, सुतनु-शुतनु। इसकी तुलना शूद्रक के मृच्छकटिक में शकार की भाषा शाकारी से की जा सकती है जहाँ ष् और स् श् के रूप नें मिलता है। जैसे-वसन्तसेना, वशन्तशेणिए। वास्तव में उसका नाम शकार इसलिए है कि वह श् का उच्चारण बहुत अधिक करता है।

पाठ-15

अपभ्रंश भाषा

भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल के तीसरे उपकाल को अपभ्रंशकाल कहा गया है। और इसका समय 500 ई.से 1000 ई. तक माना गया है। इसके बाद भारतीय आर्यभाषा का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है। जिसमें पंजाबी, सिन्धी, बंगाली, मराठी, नेपाली, असमिया आदि का विकास हुआ। आजकल आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल चल रहा है।

इस प्रसंग में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल के सम्बन्ध में चलने वाले भाषाई विवाद का पुनः उल्लेख करना उचित और आवश्यकत रहेगा। भाषावैज्ञानिकों में इस बात पर विवाद है कि क्या 500 ई.पू. से प्रारम्भ होकर 1000 ई. तक चलने वाले पन्द्रह सौ वर्षों के मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल को एक इकाई माना जाए या उसे तीन उपकालों में विभक्त करके उसका अध्ययन किया जाय। जो विद्वान इस सम्पूर्ण काल को एक इकाई मानते हैं उनके अनुसार इस पूरे कालखण्ड में भाषा का मूल स्वरूप एक ही था जिसे हम प्राकृत कह सकते हैं। इसी प्राकृत के विभिन्न रूप अपनी छोटी-छोटी भाषाई विशेषताओं के कारण विभिन्न नामों से जाने गए जिन्हें हम पालि, पैशाची, माहाराष्ट्री शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, अपभ्रंश आदि नामों से जानते हैं। अपनी स्थानीय विशेषताओं के कारण इनके विभिन्न नाम पड़ गए अन्यथा इनका संयुक्त अथवा सामान्य नाम प्राकृत ही था। परन्तु जो विद्वान इस समग्र काल को तीन उपकालों में विभक्त कर देखना चाहते हैं वे अलग अलग उपकालों में अलग-अलग भाषाई रूपों को स्वीकार करते हैं।

1. 'अपभ्रंश' -नामकरण की प्राचीनता

अपभ्रंश शब्द धातु भ्रंश् धातु से अप उपसर्ग लगने पर बना है जिसका अर्थ है बिगड़ा हुआ, विकृत, खराब, भ्रष्ट इत्यादि। जब भाषा के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया जाता है तो ऊपर बताए गए अर्थों की पृष्ठभूमि में इस भाषा का भी यही स्वरूप सामनेआता है कि यह कोई विकृत और भ्रष्ट भाषा होगी। हमारे देश में संस्कृत सबसे प्राचीन और सबसे महत्वपूर्ण भाषा रही है। इसकी वैज्ञानिकता के विषय में देश के वैयाकरण और विद्वान् इतना अधिक आश्वस्त रहे कि उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक भाषा को हीन और विकृत मान लिया। अपभ्रंश शब्द संस्कृत से इतर भाषाओं के लिए इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त होना शुरु होगा ऐसा निश्चित ही लग रहा है, पर परवर्ती काल में इसका नाम भाषाविशेष के लिए निश्चित हो गया।

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में अति प्राचीन काल से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि ने इसका प्रयोग सबसे पहले किया था। पतंजलि का समय दूसरी सदी ई.पू. माना जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा की न सही पर भाषा के अर्थ में सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाले अपभ्रंश शब्द की प्राचीनता आज से करीब बाईस सौ वर्ष पूर्व मानी जा सकती है। अपने ग्रन्थ महाभाष्य के प्रथम आह्निक में पतंजलि कहते हैं -"**एकैकस्य हि शब्दस्य बहवो अपभ्रंशः तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपी-त्तलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।**" अर्थात् प्रत्येक शब्द के कई अपभ्रंश अर्थात् बिगड़े हुए रूप मिलते हैं। जैसे-गौ एक शब्द है, पर इसके गावी, गोवी, गोता, गोपोत्तलिका आदि अनेक अपभ्रंश रूप मिलते हैं। पतंजलि के इस कथन से स्पष्ट है कि वे महाभाष्य में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग इस नाम वाली किसी विशेष भाषा के रूप में नहीं कर रहे हैं अपितु किसी भी भाषा के उन रूपों के लिए कर रहे हैं जो संस्कृत की अपेक्षा बिगड़े हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा का दूसरा उल्लेख आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में है। भरत का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। पतंजलि के बाद हमें अपभ्रंश भाषा के बारे में कोई अन्य सन्दर्भ चार सौ वर्षों के बाद मिलता है। परन्तु भरत ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है। उनके कथन से विद्वानों ने ऐसा संकेत प्राप्त किया है कि वे अपभ्रंश शब्द की ओर लक्षित कर रहे हैं। भरत ने तीन भाषाओं के नाम दिए हैं-संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा। वे कहते हैं-"एवमेतेपु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा। उर्ध्वम् प्रवक्ष्यामि देशभाषा प्रकल्पनम्।" विद्वानों की धारणा है कि भरत ने जिसे देशभाषा कहा है वही आगे चलकर अपभ्रंश कहलाई। फिर देशभाषा का विवेचन करते हुए भरत ने शबर, आभीर, चण्डाल, सौवीर, द्रविड, ओड्र, और वनेचरों की भाषा का उल्लेख किया है। हम इनको देशभाषा की विभाषाएं कह सकते हैं।

दो कारणों के आधार पर देशभाषा को अपभ्रंश के समकक्ष माना जा सकता है। आगे चल कर भरत ने कहा है-

हिमवत् सिन्धुसौवीरान् ये च देशाः समाश्रिता।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत॥

इस कारिका में भरतमुनि ने देशभाषा के विषय में दो बातें बहुत स्पष्ट रूप से बता दी हैं। एक यह कि इस भाषा को बोलने वाले हिमालय क्षेत्र, सिन्धु और सौवीरदेश में रहते हैं और दूसरे यह कि इस भाषा में उकार की बहुत प्रधानता है। जहाँ तक "उकार

बहुला" भाषा का प्रश्न है, यह निश्चित रुप से अपभ्रंश भाषा की विशेषता है क्योंकि सभी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में अपभ्रंश में ही उकार का बहुत अधिक प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त छठी सदी में आचार्य दण्डी ने जिस आभीर जाति को इस भाषा का अर्थात् अपभ्रंश का प्रयोग करने वाला बताया है उनका निवास भी उसी क्षेत्र में था जिसका संकेत ऊपर किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय अपभ्रंश भाषा प्रचलित थी। इतना अवश्य है कि यह पूर्ववर्ती स्वरूप वाली कोई अपभ्रंश थी और उसका नाम भी उस समय तक अपभ्रंश नहीं था।

भरत के चार सौ वर्ष बाद छठी शताब्दी ई. से अपभ्रंश का एक भाषा विशेष के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलना प्रारम्भ हो जाता है। सौराष्ट्र के काठियावाड़ क्षेत्र में एक शिलालेख मिला है जिसका समय 500 ई. का माना गया है। यह शिलालेख बलभी के राजा धरसेन का है जिसके कथ्य में अपभ्रंश का भाषा के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। राजा धरसेन उसमें अपने पिता के सम्बन्ध में लिखते हैं-

"संस्कृत प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणान्तः करणः।"

अर्थात् राजा के पिता संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा में भी रचना करने में प्रवीण थे। इस शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसा की छठी सदी तक अपभ्रंश न केवल भाषाविशेष के रूप में ख्यात हो गई थी, अपितु साहित्य रचना के माध्यम के रूप में भी सुप्रतिष्ठित हो गई थी।

इसके अतिरिक्त दो उल्लेख और भी मिलते हैं जो इसी सदी (छठी सदी) के हैं। दण्डी और भामह में से कौन पहले हुआ इसका विवाद चाहे महत्वपूर्ण न हो पर दोनों को समकालीन सदी में हुआ मानकर दो अंश अपभ्रंश के सम्बन्ध में उद्धृत कर सकते हैं। ऊपर लिखे वलभी शिलालेख के समान आचार्य भामह ने भी अपने काव्यालंकार में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन भाषाओं का उल्लेख किया है-

तदिदं वाङ्मय भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च; मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम्॥

इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि छठी शताब्दी तक अपभ्रंश मानक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होकर संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष मानी जाने लगी थी।

2. अपभ्रंश का प्रसार क्षेत्र

जिस भाषा को हम आज अपभ्रंश के नाम से जानते हैं और उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिसका प्रारम्भ दूसरी शताब्दी ई.पू. हो चुका था, जिसकी पूर्ण साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा छठी शताब्दी ई. तक हो चुकी थी, इसके अनेक नाम भारत की साहित्यिक परम्परा में मिलते हैं। भाषा वैज्ञानिकों के मतानुसार इन नामों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी उन नामों की है जिनका विकास 'अपभ्रंश' शब्द से हुआ है। जैसे-'अवमंस अवहंस'। दूसरी श्रेणी उन नामों की है जिनका विकास 'अपभ्रष्ट' शब्द से हुआ है। जैसे-अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ और औहठ।

प्रश्न उठता है कि ये दो प्रकार के नाम एक ही भाषा के दो नाम हैं, दो अलग-अलग भाषाओं के नाम हैं या एक ही भाषा की दो अवस्थाओं के नाम हैं? विद्वानों की इस प्रश्न पर कोई सहमति नहीं है। एक मत डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी एवं डॉ. सुकुमार सेन जैसे विद्वानों का है जिनका ऐसा कहना है कि जिस प्रकार संस्कृत भाषा के दो रूप मिलते हैं और हम उन्हें वैदिक और लौकिक संस्कृत कहते हैं ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश के भी दो रूप मिलते हैं जिन्हें हम अपभ्रंश और अवहट्ठ कहते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप यह तर्क दिया जाता है कि 500 ई. का जो अपभ्रंश का रूप हमें मिलता है वह उस रूप से पृथक् है जिसका विकास 1000 ई. के आस पास हो चुका था। यह भी कहा जा सकता है कि 600 ई. के आसपास हमें अपभ्रंश का जो रूप मिलता है वह सम्भवतः उस अपभ्रंश के अधिक निकट होगा, जिसका उल्लेख दूसरी सदी पू. लिखे गये महाभाष्य में पतंजलि ने किया था।

यद्यपि इस मत की स्थापना करने वाले दोनों विद्वान् आधुनिक भारत के मान्यता प्राप्त भाषावैज्ञानिक हैं, तथापि इस मत को विशेष समर्थन नहीं मिला है। प्रयाः विद्वानों की यही मान्यता है कि ये दोनों नाम एक ही भाषा के पर्यायवाची शब्द हैं। यह ठीक है कि 600 ई. की अपभ्रंश और 1000 ई. की अपभ्रंश में पर्याप्त अन्तर है, पर वह कोई ऐसा गुणात्मक अन्तर नहीं है कि उनहें दो पृथक् भाषारुप मान लिया जाए। सामान्य रूप से भी बोलचाल के प्रवाह में भाषा में परिवर्तन आता ही रहता है, फिर यह तो चार सौ वर्षों का अन्तर है जिस कारण भाषा में परिवर्तन की मात्रा निश्चित से अधिक हो चुकी थी। परन्तु फिर भी इस परिवर्तन के आधार पर दो पृथक् भाषाई रूप मानने को विद्वान तैयार नहीं हैं। यह भी हो सकता है कि डॉ. चटर्जी और डॉ. सेन जिन भाषिक परिवर्तनों की ओर संकेत कर रहे हैं वह कालगत भेद होने की अपेक्षा प्रदेशगत भेद ही अधिक हों। इस आधार पर भी दो भाषारूप बनाना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

अब हम अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान देते हैं कि अपभ्रंश के प्रारम्भिक प्रयोक्ता लोग-

कौन थे और धीरे-धीरे इस भाषा का प्रसार कैसे हुआ। आचार्य भरत के उपरिनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार नाट्यशास्त्र में यद्यपि भाषा के रूप में अपभ्रंश का नाम उस प्रकार से नहीं लिया गया है जिस प्रकार से भामह और दण्डी ने अपने-अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में लिया है तथापि परोक्ष रूप में वहाँ अपभ्रंश की ओर निश्चित संकेत किया गया है ऐसा भाषावैज्ञानिकों का मत है। भरत ने 'देशभाषा' कहकर जिस प्रकार उकार बहुला भाषा की ओर संकेत किया है वह वास्तव में अपभ्रंश ही है। परन्तु इसके अतिरिक्त भरत कहते हैं-

आभीरोक्तिः शाबरी स्यात् द्राविड़ी द्रविडादिषु।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि भरत ने जिस भाषा को 'आभीरोक्ति' कहा है वह वास्तव में अपभ्रंश ही है। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि भरत के चार साढ़े चार सौ वर्षों बाद आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में अपभ्रंश को आभीर जाति की भाषा माना है। दण्डी कहते हैं-

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः।"

इससे स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश ही आभीर जाति की भाषा अर्थात् आभीरोक्ति थी।

आभीर जाति गोपालकों या ग्वालों की जाति थी। भारत के गुर्जर प्रदेश में, जो आज का गुजरात है गोपालकों की जातियाँ रहा करती थीं। इन गोपालकों की भाषा होने के कारण अपभ्रंश इतनी प्रख्यात हुई कि पतंजलि ने अपभ्रंश का उदाहरण देने के लिए गावी, गोणी, गोपोतलिका, गोता आदि अनेक नाम गाय के ही दिए हैं। आभीर जाति का प्रारम्भिक निवास पश्चिमोत्तर भारत में था जो बाद में दक्षिणपश्चिमी भारत की ओर पहुँच गई। कुछ विद्वान् इस घटना का सम्बन्ध कृष्ण के द्वारिका गमन के साथ जोड़ते हैं। कृष्ण का ब्रज और उसके आसपासका आज का विशाल हरियाणा प्रदेशआभीर जाति का निवास स्थान था। पर कृष्ण जब शत्रुओं के आक्रमणों से उनकी सुरक्षा की खोज में गुजरात के पास द्वारिका में चले गए तो सम्भवतः उसी समय आभीर जाति का एक बहुत बड़ा समुदाय भी गुजरात की ओर आव्रजन कर गया होगा। यद्यपि अपभ्रंश भाषी आभीरों का एक बहुत बड़ा समुदाय गुजरात या दक्षिणपश्चिमी भारत की ओर चला गया, फिर भी उत्तरपश्चिमी भारत में बोली जाने वाली अपभ्रंश का महत्व बना रहा।

इतिहासकारों का ऐसा मानना है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने अपभ्रंश को बहुत अधिक महत्व दिया जबकि अन्य प्रदेश में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं को राज्याश्रय मिला हुआ था। इन राष्ट्रकूटों का राज्य गुजरात तक ही फैला था। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के बाद गुजरात के चालुक्यवंशी राजाओं ने इस भाषा को राजकीय प्रोत्साहन दिया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण आर्यभाषाभाषी भारत पर अपभ्रंश का प्रभाव फैल गया। पर इसके पश्चिमी प्रदेशों की भाषा होने की मान्यता को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची। 900 ई. में हुए प्रख्यात काव्यशास्त्री राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि राजा के सेवकों को अपभंश भाषा का ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। फिर वे कहते हैं कि राजदरबार में अपभ्रंश कवियों के बाद चित्रलेखाकर का स्थान होना चाहिए।

इसके बाद ग्यारहवीं सदी में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। 1061 में नमिसाधु ने काव्यालंकार की अपनी टीका में कहा है-"**तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः।**" ग्यारहवीं सदी में हुए आचार्य हेमचन्द्र ने अपभंश को अपने व्याकरण ग्रन्थ में पर्याप्त महत्व दिया है। अपभ्रंश का पश्चिमी भारत से इतना अधिक एकीकरण हो चुका था कि 17वीं सदी के प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने प्राकृतों के लोकप्रचलित सत्ताइस भेदों के स्थान पर मुख्य रूप में केवल तीन ही भेद माने हैं-नागर, उपनागर और ब्राचड़ और ये तीनों नाम पश्चिमी अपभ्रंश की बोलियों के हैं। राजशेखर ने भी इसे टक्क भादानक, मरुभूमि अर्थात् पंजाब और राजस्थान की भाषा कहकर इसका सम्बन्ध पश्चिम से ही फिर से जोड़ दिया है।

क्या प्राकृत और अपभ्रंश के बीच कोई सम्बन्ध है? भाषाविदों की धारणा है कि जिस प्रकार संस्कृत से पालि और पाँच प्रकार की साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ, उसी प्रकार पालि प्राकृत से अपभ्रंश का विकास हुआ। अगर इस धारणा को मान लिया जाए तो जिस प्रकार प्राकृत एक समवेत नामकरण है और कालान्तर में इसके पांच रूपों का विकास हुआ, उसी प्रकार अपभ्रंश भी अनेक भाषारूपों का एक सामान्य नाम है। ऐसा मानने वाले विद्वानों का कहना है कि माहाराष्ट्री, शौरसेनी आदि जो पाँच साहित्यिक प्राकृतें हैं उनका अगला विकास उनके इतने ही या अधिक अपभ्रंश रूपों में निश्चित हो हुआ होगा जिन रूपों से अगली अवस्था में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ। फिर प्रश्न उठता है कि वे रूप आज हमारे पास विभिन्न प्राकृत रूपों की तरह उपलब्ध क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जब देश में संस्कृत नाटकों का विकास हुआ, उस समय तक प्राकृत अपनी विविधताओं में बोलचाल की भाषा के रूप में स्थापित हो चुकी थी। इसलिए संस्कृत नाटककारों ने इन प्राकृत रूपों को अपने नाटकों में स्थान दिया। परन्तु जब प्राकृतों का स्थान विविध अपभ्रंश रूपों ने ले लिया तब भी संस्कृत नाटककार प्राकृतों का उपयोग करने के परम्परागत मोह से मुक्त न हो सके और उन्होंने अपभ्रंश रूपों को कोई महत्त्व देने के स्थान पर विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग जारी रखा। परिणाम यह हुआ कि नाटकों में अपभ्रंश रूपों का समावेश नहीं हो पाया। पर इसके बावजूद साहित्यिक भाषा के स्तर पर कई लेखकों ने अपभ्रंश का उपयोग किया है और कई वैयाकरणों ने अपभ्रंश पर व्याकरण भी लिखे हैं।

3. अपभ्रंश व्याकरण और सहित्य

मध्यकालीन आर्यभाषा प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच अपभ्रंश का एक कड़ी के रूप में जितना भाषाई महत्व है, ऐसा प्रतीत होता है कि इतना अधिक महत्त्व भारत के वैयाकरणों और साहित्यकारों ने उसे नहीं दिया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि किसी भी वैयाकरण ने अपभ्रंश जैसे महत्वपूर्ण भाषा अथवा भाषा समूह का व्याकरण नहीं लिखा है।

यद्यपि अनेक वैयाकरणों ने अपभ्रंश भाषा के नियम दिए हैं पर वे सभी नियम प्राकृत भाषाओं पर लिखे व्याकरण ग्रन्थों के अंग या परिशिष्ट रूप में ही है। प्राकृत भाषा का व्याकरण वररुचि के द्वारा लिखा माना जाता है। ये वररुचि और संस्कृत व्याकरण के वार्तिककार वररुचि कात्यायन एक ही हैं अथवा अलग-अलग इस बारे में मतभेद है पर प्रायः विद्वान् उन्हें पृथक् मानने के पक्ष में हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के लिए कोई नियम नहीं दिए हैं। प्रसिद्ध जैन वैयाकरण चण्डी ने सबसे पहले अपने ग्रन्थ 'प्राकृत लक्षणम्' में अपभ्रंश भाषा के लिए नियम बनाए हैं, पर पूरे ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा के लिए केवल तीन नियम हैं। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने संस्कृत व्याकरण 'सिद्ध हेमशब्दानुशासनम्' में अपभ्रंश पर 120 सूत्र लिखे हैं और सम्भवतः अपभ्रंश भाषा पर यह सबसे बड़ा व्याकरण है। इतना ही नहीं हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण ग्रन्थ में संस्कृत धातुओं का विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के 'देशीनाम माला' नामक कोश में अनेक अपभ्रंश शब्दों का संकलन है। त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर और सिंहराज नामक टीकाकारों ने भी अपभ्रंश के कुछ नियम दिए हैं।

जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा के व्याकरण को लेकर भारतीय विद्वान गम्भीर नहीं रहे हैं, वैसे ही अपभ्रंश साहित्य की खोज को लेकर भी विद्वानों में लम्बे समय तक उदासीनता रही है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि अपभ्रंश में साहित्य रचना नहीं हुई। इसके विपरीत अपभ्रंश भाषा के लम्बे समय तक चली महती लोकप्रियता को देखते हुए यह निश्चित ही लगता है कि अपभ्रंश में विशाल साहित्य लिखा गया जिसकी शोध होना अभी शेष है।

ऐसा माना जाता है कि किसी साहित्यिक ग्रन्थ में अपभ्रंश के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाम का नाटक में है जो उसके चौथे अंक में मिलते हैं। इसके विपरीत कुछ संस्कृत कथा ग्रन्थों के अपभ्रंश रूपान्तर किए गए। जैसे- बेताल पंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, द्वारावती विध्वंस आदि। पर इसके बारे में यह कहना कठिन है कि ये ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में थे और फिर इनका अपभ्रंश रूपान्तरण किया गया या इनकी मूलरचना अपभ्रंश में ही हुई थी। वैसे जिस प्रकार का लोक-कथात्मक तत्व इन कथाओं में है इससे यही प्रतीत होता है कि ये कथाएं मूलतः अपभ्रंश में ही लिखी गई होंगी और बाद में संस्कृतज्ञों ने उसका रूपान्तरण कर दिया होगा।

अपभ्रंश में अनेक प्रभावशाली प्रबन्ध काव्य लिखे गए होंगे, ऐसा विश्वास के साथ कहा जा सकता है। अब तक पांच बड़े प्रबन्ध काव्य सामने आ चुके हैं। भविसयत कहा, तिसटिठ्महापुरिस गुणालंकार, आराधना, नैमिनाह चरिउ, वैरिसामिचरिउ। ये ग्रन्थ बृहती प्रबन्ध काव्य परम्परा की ओर संकेत कर रहे हैं।

विद्वानों की धारणा यह है कि अपभ्रंश साहित्य का प्रारम्भ मुक्तकों की रचना के साथ हुआ। सरह और कण्ह के दोहे और हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश पद्यों से इस तथ्य की पुष्टि हो रही है। इसका कारण भी स्पष्ट है। जब अपभ्रंश का विकास एक बोलचाल की भाषा के रूप में हुआ तो उस समय संस्कृत पुरानी अप्रचलित भाषा के रूप में और प्राकृतें साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। इसलिए सामान्य जन की सहज गीतमयी अभिव्यक्ति के लिए अपभ्रंश का प्रचुर प्रयोग हुआ। यद्यपि इस प्रकार का कोई बड़ा गीत संग्रह अब तक सामने नहीं आया है, पर फुटकर गीत बहुत बड़ी संख्या में मिल जाते हैं। ये गीत और सूक्तियाँ हर प्रकार के रस और भाव से युक्त हैं। उदाहरण के रूप में हम हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत एक पद्य ले सकते हैं–

जे गई दिण्णा दिअडहा, दइए पव संतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिड, जज्जरिआउ णहेण॥

अर्थात्-मेरे प्रवासी पति ने जाते समय जो अवधि के दिन दिए थे उन्हें गिनते-गिनते अंगुलियां नखों से क्षत जर्जर हो गई हैं। वास्तव में विद्यापति, चंद, धन, धनपाल आदि कवियों के और न जाने कितने ही अज्ञात नामा कवियों के मुक्तक अपभ्रंश भाषा में बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं।

4. अपभ्रंश और संस्कृत स्वर

यदि पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों द्वारा भारतीय आर्यभाषाओं के कालविभाजन को स्वीकार कर लिया जाए तो जहाँ संस्कृत का काल 500 ई. पू. में समाप्त हो जाता है वहाँ अपभ्रंश का काल ठीक एक सहस्त्र वर्षों के पश्चात् 500 ई. में प्रारम्भ होता है। मध्य के एक हजार वर्षों में पालि और साहित्यिक प्राकृतों का विकास माना गया है। यदि पालि प्राकृत को एक ही भाषा वर्ग मान लिया

के एक हजार वर्षों में पालि और साहित्यिक प्राकृतों का विकास माना गया है। यदि पालि प्राकृत को एक ही भाषा वर्ग मान लिया जाए तो यह धारणा तर्कसंगत लगती है कि ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए पालिप्राकृत की तुलना संस्कृत से की जाए क्योंकि दोनो भाषा वर्गों में पूर्वापर सम्बन्ध है। पर अपभ्रंश की ध्वनियों की तुलना को प्राकृत की ध्वनियों से करनी चाहिए क्योंकि प्राकृत ही अपभ्रंश की एकदम पूर्ववर्ती भाषा है जबकि संस्कृत और अपभ्रंश के बीच एक हजार वर्षों का अन्तराल है। किन्तु प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने संस्कृत प्राकृत के समान ही संस्कृत-अपभ्रंश ध्वनियों की तुलना करने की परम्परा डाल दी जिसका अनुकरण करते हुए पिशेल पश्चिमी भाषाविदों और उनके अनुकरण पर आधुनिक भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने भी हमेशा संस्कृत और अपभ्रंश की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

पालि और साहित्यिक प्राकृतों का स्वर परिवर्तन अध्ययन हम पहले विस्तारपूर्वक कर आए हैं। अपभ्रंश के बारे में कहा जाता है कि उसमें स्वरपरिवर्तन बहुत ही अनियमित रूप से हुआ है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश में भी परिवर्तन की प्रक्रिया साहित्यिक प्राकृतों के समान ही हुई है। उसमें अपनी कुछ विशेषताएं भी अवश्य हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है।

1. अन्त्यस्वर लोप अथवा ह्स्वीकरण:- यह प्रवृत्ति सभी मध्यकालीन आर्यभाषाओं में है परन्तु अपभ्रंश में इसका प्रभाव बहुत अधिक है। संस्कृत की दीर्घस्वर की एक मात्रा का प्रायः लोप हो जाता है और शब्द ह्स्व स्वरान्त बन जाता है। जैसे-प्रिया-पिअ, संध्या-संझ, अविद्या-अवेज्ज।
2. संस्कृत शब्दों के अन्तिम स्वर से पहले के स्वर अर्थात् उपधास्वर के बारे में अपभ्रंश में दो प्रकार के परिवर्तन हैं। प्रायः देखा गया है कि उस स्वर को उसी रूप में रखा गया है, यद्यपि उसके साथ उच्चारित व्यंजन का लोप हो गया है। जैसे-गोरोचण-गोरोअण, क्षपणक-षपणउ, अन्धकार-अन्धआर, भुजंगम-भुंगम। पर कुछ उदाहरणों में इस प्रकार के संस्कृत स्वर का अपभ्रंश में परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे पाषाण-पहण, ब्रह्मचर्य-बम्भचार, गंभीर-गुहिर, स्वरूप-सरूप।
3. संस्कृत शब्दों के आदि स्वरों के परिवर्तन करते समय अपभ्रंश में दो प्रकार की स्थितियाँ पैदा हुई हैं। इन दोनों का सम्बन्ध बलाघात से है। जहाँ संस्कृत शब्दों के आदि स्वर पर बलाघात है वहाँ अपभ्रंश में भी वह बलाघात सुरक्षित रहा है और स्वर की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं आया है। जैसे गभीर-गहिर, जघन-जहण, तडाग-तलाउ, वचन-वयणु। पर जहाँ आदि अक्षर पर बलाघात नहीं है वहाँ स्वर का लोप हो जाने अथवा उसमें मात्रिक परिवर्तन पैदा हो जाने के उदाहरण मिलते हैं। जैसे -कस्य-कासु, तस्य-तासु, अरण्य-रण्ण, उत्सव-ऊसव, अरघट्ट-रहट्ट।
4. संस्कृत के समान्य स्वरों को सानुनासिक बना देने की प्रवृत्ति प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी प्राप्त हो जाती है। जैसे-पक्षि-पंकि, बक्र-बांक। कहीं इसके विपरीत स्थिति है। संस्कृत के सानुनासिक स्वर अनुनासिक विहीन हो गए है। जैसे-सिंह-सीह, विंशति-बीस।
5. संस्कृत के अन्तःस्थ युक्त शब्दों के अन्तःस्थ व्यंजन अपभ्रंश में कुछ उदाहरणों में अपने सम्प्रासार्णीकृत रूपों में मिल जाते है। जेसे-ध्वनि-धुनि, झुणि, विद्वस्-विदस्, तिर्यक्-तिरिच्छ।
6. प्राकृतों के समान अपभ्रंश में भी स्वरभक्ति की सहायता से कठिन संयुक्त व्यंजनों को सरल बनाने का प्रयास किया जाता है। जैसे-कृष्ण-कसण, मूर्ख-मुरुक्ख, आश्चर्य-अच्छेरय, कार्य-केर, पद्म-पोम।
7. ऊपर हम भरत द्वारा संकेतित "उकारबहुला" भाषा का उल्लेख कर आए हैं और कह आए हैं कि भाषा वैज्ञानिकों ने इसे अपभ्रंश भाषा माना है। वास्तव में उकार की अधिकता अपभ्रंश की प्रमुखतम विशेषता है।संस्कृत के अनेक स्वरान्त और व्यंजनान्त शब्द अपभ्रंश में आकर उकारन्त हो गए हैं। जैसे-उद्वेग-उवेउ, पुरत:-पुरउ, समम्-सउ, एष:-एउ।
8. इन विशेषताओं के अतिरिक्त अपभ्रंश की स्वर योजना की सभी विशेषताएँ प्राकृत भाषाओं से मिलती हैं। चाहे इसे हम पुनरुक्ति कह लें तथापि दो प्रमुख विशेषताओं का यहाँ फिर से उल्लेख करना अपरिहार्य है। अपभ्रंश में संस्कृत के सभी स्वर मिल जाते हैं परन्तु ऋ का अभाव है उसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं:-

   ऋ-रि = ऋषभ-रिसह, ऋषि-रिसि।

   ऋ-इ = तृण-तिण, समृद्धि-समिद्धि।

   ऋ-अ = तृष्णा-तण्हा।

   ऋ-उ = वृक्ष-रुख, मातृ-माउ, पितृ-पीउ।

इसी प्रकार संस्कृत के ध्वनियुग्मों ऐ और औ का भी अपभ्रंश में पूर्ण अभाव है और उनका रुपान्तरण अनिवार्य रूप से होता है। जैसे-

ऐ-ए = ऐरावत-एरावउ, गैरिक-गेरुअ।

औ-ओं = यौवन-जोव्वण, मौक्तिक-मोत्तिय।

ऐ-अइ = कैरव = कइरव, भैरव-भइरव।

औ-अउ = मौलि-मउलि, गौरव-गउरव।

इस प्रकार संस्कृत और अपभ्रंश के स्वरों के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सही अर्थों में अपभ्रंश कोई स्वतन्त्र भाषा न होकर प्राकृत भाषाओं का ही विस्तार है।

5. अपभ्रंश और संस्कृत व्यञ्जन

स्वरों के समान व्यञ्जनों के विषय में भी अपभ्रंश भाषा प्राकृत भाषाओं से विशेष पृथक् नहीं है। संस्कृत के प्रायः सभी व्यंजन प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी मिल जाते हैं।

1. अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों के आदि व्यंजनों को प्रायः सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे- गजः-गयो, गतः-गओ, कमल-कंवल, कृष्ण-कान्ह, कण्ह।
2. पर कुछ उदाहरणों में संस्कृत के आदि अल्पप्राण व्यंजनों का अपभ्रंश में महाप्राणीकरण हो जाता है। जैसे-कीलकः-खिल्लियई, ज्वल-झलण।
3. दूसरी ओर कुछ उदाहरणों में संस्कृत के महाप्राण व्यंजनों का अपभ्रंश में अल्पप्राणीकरण हो गया है। जेसे-क्षुभित-कुहिय, भगिनी-बहिणी।
4. संस्कृत शब्दों का स्वरमध्यग (स्वरों के मध्य आने वाला) म् प्रायः सुरक्षित है पर कुछ उदाहरणों में उसका परविर्तन व में हो गया है। जेसे-कामोह-वामोह, समय-समइ, समृद्धि-समिद्धि, लेकिन कमल-कँवल, आमलक-आँवलक, श्रमण-सँवण, पंचम-पंचवुँ।
5. आदि के य् का परिवर्तन प्रायः ज् में हो गया है। जैसे-यद्यपि-जदवि, यामिनी-जामिणी, यमुना-जउँणा, यौवन-जोब्बण, यम-जम।
6. प् का परिवर्तन कुछ उदाहरणों में व् में हो गया है। जैसे-दीपः-दीवो, यद्यपि-यदवि, शापः-सावो।
7. माहाप्राण व्यंजन के स्थान पर कई बार केवल ह् ध्वनि शेष रहती है। जैसे-मेघः मेहो, नाथः-नाहो, कथा-कहा, सुखाप्यते-सुहाइयइ, मनमथ-वम्मह, मुक्तफल-मुक्ताहल, चतुर्विध-चउविह।
8. शब्द के रूप में आने वाले व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता है। जैसे-परकीय-पराइय, योगी-जोई, राजा-राअ, पाठ-पाअ।
9. श् और स् प्रायः ह् हो गए हैं। जैसे-द्वादश-बारह, संदेश -संदेश, सनेह, दश-दस, उह, वर्षण-वरिहण।
10. ल् का प्रयोग किसी के स्थान पर और कहीं भी हो सकता है जिसके लिए कोई नियम बना पाना सम्भव नहीं। जैसे-दारिद्रय-दालिद्द, नवनीत-लोण, प्रदीप्त-पलित्त।

6. अपभ्रंश रूपरचना

जहाँ तक संस्कृत स्वरों और व्यंजनों के अपभ्रंश में होने वाले रूपान्तरण का प्रश्न है इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में प्राकृत भाषाओं और अपभ्रंश में बहुत कम अन्तर है। जैसा कि हम ऊपर इसी पाठ में कह आए हैं, अपभ्रंश में होने वाले ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन एक दृष्टि से प्राकृत में हो चुके परिवर्तनों का विस्तार मात्र हैं उनका कोई स्वतंत्र रूप में उल्लेखनीय अस्तित्व नहीं है। किन्तु जब हम रूपरचना के क्षेत्र की ओर आते हैं तो हमें कई दृष्टियों से प्राकृत और अपभ्रंश में मौलिक अन्तर दिखाई देता है। डॉ. जयप्रकाश जलज के शब्दों में, **"रूपरचना क्षेत्र में वह सरलीकरण और एकरूपीकरण आदि के द्वारा केवल प्राकृत की परम्पराओं का ही विकास नहीं करती बल्कि अपनी निजी विशेषताओं को भी प्रकट करती है।"**

1. अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संस्कृत और पालि की तरह संयोगात्मक भाषा नहीं है अपितु वियोगात्मक भाषा है। इस दृष्टि से प्राकृत को भी हम अंशतः ही वियोगात्मक कह सकते हैं क्योंकि उसमें भी संयोगात्मक की प्रवृत्ति के काफी हद तक दर्शन होते हैं। जिस प्रकार संस्कृत में विभक्ति प्रत्यय हैं किन्तु वे शब्द की रूपरचना के समय उसी में अन्तर्मुक्त हो जाते हैं वैसे ही अपभ्रंश में भी हैं किन्तु वे अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं रूपरचना में ही अन्तर्मुक्त नहीं हो जाते हैं। उदाहरण के लिए हम विभिन्न कारकों के लिए अपभ्रंश में विकसित विभिन्न विभक्त्ति प्रत्ययों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

   करण-सहुँ, तण
   सम्प्रदान-केहि, रेसि
   अपादान-होन्तेउ, हुन्तउ, होन्त, थिउ
   सम्बन्ध-केरअ, केर, कर
   अधिकरण-मज्झ, महँ, महि
2. इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में कारक रूपों की संख्या भी काफी कम हो गई है। जहाँ संस्कृत में 24 कारक रुप थे, वहाँ

प्राकृत में 12 कारक रुप रह गए है। पर अपभ्रंश में तो इनकी संख्या केवल छह ही रह गई है। ऐसा दो कारणों से सम्भव हो सका है। एक तो यह कि अपभ्रंश में द्विवचन का नितान्त अभाव हो गया है। दूसरी ओर कुछ कारक रूप एक दूसरे में विलीन हो गए हैं। इस प्रकार अपभ्रंश में सभी कारकों के एकवचन और बहुवचन के प्रयोगों के लिए केवल छह रूप मिलते हैं जिनके साथ विभिन्न परसर्ग जोड़कर अनेक अर्थ ग्रहण कर लिए जाते हैं।

3. जहाँ तक शब्दों की विविधता का प्रश्न है, अपभ्रंश में पालि और प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा प्रतिपादित रूपों की संख्या और भी कम हो गई है। पालि भाषा के उद्भव के साथ ही संस्कृत के व्यंजनान्त प्रातिपादिकों में कमी आनी प्रारम्भ हो गई थी। प्राकृत भाषाओं में इस प्रवृत्ति का विस्तार हुआ और प्रायः सभी शब्द स्वरान्त हो गए। पर अपभ्रंश तक आते-आते एक खास बात यह हुई है कि इसमें स्वरों के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के कारण इसमें दीर्घ स्वरान्त शब्द भी समाप्त हो गए हैं और केवल ह्रस्वस्वरान्त प्रातिपादिक रह गए हैं।
4. एक और विशेष परविर्तन हुआ है कि अपभ्रंश भाषा तक आते आते नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग रूप भी लगभग समाप्त हो गए और केवल पुल्लिग रूप रह गए हैं। इस प्रकार अपभ्रंश में एक और कारक रूप कम हुआ है केवल पुल्लिगवाची शब्द बच गए हैं और वहाँ भी ह्रस्व अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त शब्दों का वर्चस्व है। इससे अपभ्रंश भाषा की शब्द रूपरचना में आए गुणात्मक अन्तर को समझा जा सकता है।
5. दूसरी ओर धातु रूप रचना में अब सभी लकार समाप्त होकर केवल लट्, लोट्, लिङ्, और लृट रह गए हैं शेष का प्रचलन समाप्त हो गया है। पर इनके रूप शब्दरूपों की तरह वियोगात्मक नहीं है, संयोगात्मक है। नौ गण समाप्त होकर अकेले भ्वादिगण में समाहित हो गए हैं जबकि आत्मनेपद का लोप पहले से ही चला आ रहा है। शेष धातुगणों के रूप कृदन्त प्रत्ययों के माध्यम से बना लिए गए हैं।

इसप्रकार मध्यकालीन आर्यभाषाओं में पालि के साथ जिस विशिष्ट भाषाई परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ और जिस परिवर्तन की परिधि माहाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, मागधी और अर्धमागधी सदृश साहित्यिक प्राकृतों और न जाने कितनी विभाषाओं और बोलियों के माध्यम से बढ़ी, अपभ्रंश तक आकर वह परिवर्तन क्रम अपनी पूर्णता तक पहुँच गया। 1000 ई. में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल और उसके अन्तर्गत अपभ्रंश उपकाल समाप्त होता है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल प्रारम्भ होता है जिसमें तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सदृश द्रविड़ परिवार की भाषाओं को छोड़कर शेष सभी आधुनिक भारतीय, नेपाली और पाकिस्तानी भाषाओं का विकास हुआ।

परिवर्तन
परिवर्ति
वैज्ञानिक
और :
जन्म

मुख्य

:
:
।

6

आधार
नहीं हु
अपनी
भाषा
धर्म
का अ
किन्तु
काल
कर्मिका

भाषाओं का वर्गीकरण

पाठ 11

अपनी नैसर्गिक प्रकृति के अनुसार भाषा में देश और काल के अन्तर से परिवर्तन होता रहता है। इसीलिए प्रति दस मील और दस वर्ष के अन्तराल पर भाषा भी परिवर्तित हो जाती है। परिणामतः एक ही भाषा अनेक रूपों में मिलती है। जब भाषा-वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को पहिचाना तो उन्होंने संसार भर की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन प्रारम्भ किया। इस प्रवृत्ति ने भाषाओं के वर्गीकरण को जन्म दिया। भाषाओं के वर्गीकरण से भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन संभव हो सका।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है जिनमें मुख्य हैं :-

1. महाद्वीप के आधार पर - जैसे एशियाई भाषाएँ, योरोपीय भाषाएँ।
2. देश के आधार पर - जैसे चीनी भाषाएँ, भारतीय भाषाएँ।
3. धर्म के आधार पर - जैसे मुसलमानी भाषाएँ, हिन्दू भाषाएँ, ईसाई भाषाएँ।
4. काल के आधार पर - जैसे प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्ययुगीन भाषाएँ, आधुनिक भाषाएँ।
5. आकृति के आधार पर - जैसे अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाएँ।
6. परिवार के आधार पर - भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ।
7. प्रभाव के आधार पर - जैसे संस्कृत-प्रभावित भाषाएँ, फारसी प्रभावित भाषाएँ।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन सात आधारों में से अन्तिम तीन आधार ही महत्त्वपूर्ण हैं। महाद्वीप अथवा देश के आधार पर वर्गीकरण सम्यक सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि एक देश के लोग जब दूसरे देश में चले जाते हैं तो साथ में अपनी भाषा भी ले जाते हैं। इसी कारण एक ही देश में रहने वाले दो पड़ोसियों की भाषा तो भिन्न हो जाती है किन्तु दूर देश के लोगों की भाषा एक हो जाती है। धर्म के आधार पर भाषाओं को वर्गीकृत करना संभव नहीं हो सकता क्योंकि धर्म का भाषा से कोई संबंध नहीं है। धर्म-ग्रन्थ अवश्य ही निश्चित भाषाओं में होते हैं किन्तु एक ही धर्म को मानने वालों की भाषा निश्चित रूप से भिन्न हो सकती है। काल के आधार पर भी भाषाओं का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि वर्गीकरण केवल जीवित भाषाओं का होता है। आकृति अथवा रूपात्मक साम्य के

आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण कहलाता है। जैसे जैसे भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रमुखता मिलने लगी वैसे वैसे आकृतिमूलक वर्गीकरण का महत्त्व घटने लगा किन्तु भाषा विज्ञान के इतिहास में इस वर्गीकरण का महत्त्व होने के कारण इसे सर्वथा त्यागा नहीं गया। प्रभाव के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण की प्रक्रिया अभी शैशव काल में है। दो भाषाएँ जो आकृति अथवा परिवार की दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं हैं, इस दृष्टि से एक दूसरे के समीप आ जाती हैं और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है उदाहरण के लिए हिन्दी और तमिल में पारिवारिक अथवा आकृतिमूलक दृष्टि से कोई संबंध नहीं है किन्तु संस्कृत के प्रभाव के कारण दोनों में शब्द समूह अथवा ध्वनि आदि की दृष्टि से समानता है।

भाषाओं के इतिहास के आधार पर किया गया भाषा का पारिवारिक वर्गीकरण ही वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इस वर्गीकरण में संसार भर की भाषाओं को मूल में साम्य रखने के आधार पर विभिन्न परिवारों में विभाजित किया जाता है। इसमें समय, देश, समाज अथवा परिस्थितियों के कारण हुए भाषा में परिवर्तनों को भी आसानी से परिगणित किया जा सकता है। इस प्रकार भाषा विज्ञान की दृष्टि से वर्गीकरण के दो ही आधार महत्त्वपूर्ण हैं- आकृति एवं परिवार।

किसी वाक्य का अर्थ दो तत्त्वों के कारण समझा जाता है- अर्थ तत्त्व एवं सम्बन्ध तत्त्व। सम्बन्ध तत्त्व या पदरचना का संबंध व्याकरण या भाषा की रूप रचना से होता है इसलिए संबंध तत्त्व, पद रचना या व्याकरण की समानता पर आधारित वर्गीकरण आकृति मूलक या रूपात्मक कहलाता है। इसे व्याकरणिक वर्गीकरण, रचनात्मक वर्गीकरण या वाक्य मूलक वर्गीकरण भी कहते हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण में अर्थतत्त्व की समानता पर भी ध्यान दिया जाता है। इसे वंशात्मक, तुलनात्मक या ऐतिहासिक वर्गीकरण भी कहते हैं।

आकृति मूलक वर्गीकरण —

आकृति मूलक वर्गीकरण में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है, एक तो शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार व्यक्त किया गया है दूसरे वे शब्द किस प्रकार - धातु, प्रत्यय अथवा उपसर्ग लगाकर बनाए गये हैं। शास्त्रीय शब्दावलि में इन्हें ही वाक्य विचार और प्रकृति प्रत्यय विचार कहते हैं।

आकृति-मूलक वर्गीकरण का आधार-

आकृति-मूलक वर्गीकरण का आधार यही वाक्य विचार और प्रकृति-प्रत्यय विचार या पदरचना ही है। संसार के भिन्न भिन्न लोगों की भाषा शैली भिन्न भिन्न है और उनकी वाक्य रचना भी एक सी नहीं है। उदाहरण के लिए हम चीनी और तुर्की भाषा को ले सकते हैं। चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द की पृथक् सत्ता होती है और वे प्रकृति प्रत्यय आदि से रहित होने पर भी वाक्य बनाते हैं। इसके ठीक विपरीत तुर्की भाषा है जिसमें शब्द सर्वथा संबद्ध होते हैं। उनकी प्रकृति और प्रत्यय भेद भी अस्पष्ट हैं। संस्कृत, लैटिन तथा आधुनिक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का भेद स्पष्ट होता है। आकृति मूलक वर्गीकरण की दृष्टि से भाषाएँ दो भागों में विभक्त की जाती हैं- अयोगात्मक एवं योगात्मक।

अयोगात्मक भाषाएँ-

इन भाषाओं को निरवयव, स्थान-प्रधान, एकाक्षर, एकाच्, धातुप्रधान, निरिन्द्रिय, निर्योग अथवा निपात-प्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास ने इन्हें व्यास-प्रधान कहा है। चीनी भाषा अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण है। चीनी भाषा में व्याकरण जैसी कोई वस्तु नहीं है। कोई शब्द संज्ञा है, क्रिया है अथवा विशेषण, यह वाक्य में उसकी स्थिति से पता चलता है। चीनी भाषा के शब्दों में कोई विकार नहीं आता वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जैसे -

1. ता जेन = बड़ा आदमी, जेन ता = आदमी बड़ा है।
2. ङो त नि = मैं मारता हूँ तुमको; नि त ङो = तुम मारते हो मुझको।

यहाँ तक कि विभिन्न काल की क्रियाओं के रूप बनाने में भी शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ- संस्कृत में वर्तमान काल और भूतकाल में 'जाना' क्रिया के लिए गच्छति और अगच्छत बनता है जब कि चीनी भाषा में 'त्सेन' (चलना) को भूतकाल बनाने के लिए इसके आगे 'लिआओ' (समाप्त) शब्द रख देंगे; त्सेन लिआओ (चला, चलना समाप्त)। इस प्रकार मूल शब्द त्सेन में न कुछ जोड़ा गया न घटाया गया।

इस तरह की भाषाओं में प्रत्येक शब्द की अलग अलग सम्बन्ध तत्त्व अथवा अर्थतत्त्व बताने की शक्ति होती है। वाक्य में स्थान के अनुसार ही उनके ये तत्त्व जाने जाते हैं। जैसे- लिआओ का अर्थतत्त्व है समाप्त किन्तु त्सेन लिआओ में वह संबंध तत्त्व

हो गया है और भूतकाल को बता रहा है।

अयोगात्मक भाषाओं में शब्दक्रम के साथ साथ तान (सुर, स्वर या लहजा) का भी महत्त्व होता है। इससे भी संबंध दिखाए जाते हैं। इसी प्रकार निपात या संबंधसूचक शब्दों का भी आश्रय लिया जाता है।

चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी (स्थान प्रधान) एशिया की मलय (यह एकाक्षर नहीं है), अनामी (स्वर प्रधान) बर्मी (निपात प्रधान), स्यामी तथा तिब्बती (निपात प्रधान) आदि भाषाएँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं।

योगात्मक भाषाएँ —

योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व एवं अर्थतत्त्व दोनों मिले जुले रहते हैं। उदाहरण के लिए — रामः हस्तेन धनम् ददाति में राम् (अर्थतत्त्व) + अः (सम्बन्ध तत्त्व), हस्त (अर्थ तत्त्व) + ति (सम्बन्ध तत्त्व), धन (अर्थतत्त्व) + अम् (सम्बन्ध तत्त्व) तथा दा (अर्थ तत्त्व) + ति (सम्बन्ध तत्त्व) मिले हुए हैं। दूसरे शब्दों में - इनके अर्थ तत्त्वों और सम्बन्ध तत्त्वों में योग है। इस योग के कारण ही ये भाषाएँ योगात्मक कही जाती हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक हैं।

योगात्मक भाषाओं को योग की प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जाता है -

(क) प्रश्लिष्ट योगात्मक,
(ख) अश्लिष्ट योगात्मक, तथा
(ग) श्लिष्ट योगात्मक.

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ —

इस तरह की भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व तथा अर्थतत्त्व इस भाँति मिला जुला होता है कि उन्हें अलग अलग न तो पहिचाना जा सकता है और न ही उन्हें एक दूसरे से अलग किया जा सकता है। जैसे- संस्कृत में ऋतु से आर्तव या शिशु से शैशव शब्द को लिया जा सकता है। प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं की प्रमुख विशेषता यह होती है कि वाक्य में अनेक शब्द न आकर शब्द-खण्ड आते हैं जिनके संयोग से एक बहुत लम्बा वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैंड तथा अमरीका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। प्राचीन आर्यभाषाओं की शब्दावली में कुछ अंश इसी प्रकार का था। दक्षिण अमरीका की चेरोकी भाषा का एक उदाहरण

उदाहरण है - नीतन (लाओ) आमोरवोल (नाव) एवं निन (हम); इन तीन शब्दों का पूर्ण रूप न लेकर इनके खण्डों से एक बड़ा शब्द नाधोलिनिन बनता है जिसका अर्थ होता है - हमारे पास नाव लाओ। ग्रीनलैंड की भाषा में पूरा वाक्य जुड़ कर एक ही (शब्द) बन जाता है। जैसे -

अउलिसर - मछली मारना,
पेअरतोर - किसी काम में लगना,
पिन्नो सुअरपोक् = वह जल्दी करता है।

इन तीनों से मिलकर बनता है एकशब्दीय वाक्य - अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक = वह मछली मारने के लिए जाने की जल्दी करता है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के भी दो भेद हैं; एक में योग पूर्ण रहता है दूसरे में आंशिक या अपूर्ण। पूर्ण प्रश्लिष्ट भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व और अर्थतत्त्व का योग इतना पूर्ण होता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। वाक्य में पूरे शब्द नहीं आते, उनका कुछ अंश छूट जाता है और आधे आधे शब्दों के संयोग से बना हुआ एक लम्बा सा शब्द ही वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैंड और अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त चेरोकी भाषा के 'नाधोलिनिन' एवं ग्रीनलैंड की भाषा के 'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक' वाक्यों को लिया जा सकता है।

आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में सर्वनाम तथा क्रियाओं का ऐसा योग हो जाता है कि क्रिया का अस्तित्व ही नहीं रहता और वह सर्वनाम की पूरक हो जाती है। पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली बास्क भाषा कुछ अंशों में आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषा है। उदाहरण के लिए - दकार्कि ओत और नकार्सु (मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ; तुम मुझे ले जाते हो) वाक्य लिए जा सकते हैं। इन दोनों वाक्यों में सर्वनाम एवं क्रियाएँ ही हैं; सर्वनाम और क्रियाओं को छोड़कर संज्ञा, विशेषण, अव्यय आदि का योग नहीं होता। अफ्रीका के बांटू कुल की भाषा भी इसी तरह की है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी इसके कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। गुजराती में - 'मैं कह्युं जे' का मकुंजे बन जाता है। मुल्तानी एवं हरियाणवी भाषा में मखाँ (मैंने कहा) और मेरठ की बोली में 'उन्नेका' (उसने कहा) ऐसे ही प्रयोग हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच, बंगला तथा भोजपुरी आदि अन्य

बहुत सी बोलियों तथा भाषाओं के मौखिक रूप में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद ही हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ये भाषाएँ अंशिक प्रश्लिष्ट हैं। देखा जाए तो संसार की कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से अंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक नहीं है।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ –

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थ तत्त्व तथा संबंध तत्त्व इस प्रकार जुड़ा होता है कि दोनों ही स्पष्ट रूप से दीखते हैं। इस स्पष्टता के कारण इस प्रकार की भाषाओं की रूप रचना बहुत ही सरल होती है। भाषा-वैज्ञानिकों की आदर्श एवं कृत्रिम भाषा 'एस्परैंतो' की रचना इसी आधार पर हुई है। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के भी कई वर्ग हैं।

1. पूर्व योगात्मक या पूः प्रत्यय प्रधान – इनमें सम्बन्धतत्त्व आरम्भ में लगता है। वाक्य में शब्द बिल्कुल अलग अलग रहते हैं। अफ्रीका की बांटू भाषाएँ पूर्व योगात्मक भाषाएँ हैं। उदाहरण के लिए, जुलू भाषा में –

उमु - एकवचन का चिह्न, अब - बहुवचन का चिह्न; न्तु - आदमी, क्वा - से इनके योग से बनने वाले शब्द हैं – उमन्तु (एक आदमी) अबन्तु (कई आदमी), क्वाउमन्तु (आदमी से), क्वाअबन्तु (आदमियों से)। उमु, अब तथा क्वा में कुछ अन्य शब्द जैसे तु (हमारा), चिल (सुन्दर) यबोनेकल (दिखाई पड़ना) मिलाने से जो वाक्य बनते हैं वे हैं:-

उमुन्तु वेतु ओमुच्ले उमबोनकल – हमारा आदमी देखने में सुन्दर है (एकवचन)।
अबन्तु बेतु अबचल बयेनोकल – हमारे आदमी देखने में सुन्दर हैं (बहुवचन)।

2. मध्य-योगात्मक – इन भाषाओं में प्रत्यय मध्य में जुड़ता है। मुंडा भाषाओं में मध्य-योग के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए संथाली भाषा में मंझि (मुखिया) और प (बहुवचन का चिह्न) के योग से बनता है मपंझि शब्द (मुखिया लोग), यहाँ प बीच में जोड़ा गया है। अपवाद के रूप में बांटू भाषा में भी मध्य-योग के कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे –

सि तन्दा = हम प्यार करते हैं।
सि-म-तन्दा = हम उसे प्यार करते हैं।
सि-ब-तन्दा = हम उन्हें प्यार करते हैं।

तुर्की भाषा का भी मध्य-योग का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसे – सेव मेक = प्यार करना; सेव इन मेक = अपने को प्यार करना, सेव इल मेक = प्यार किया जाना।

कुछ भाषाएँ ईषत् प्रत्यय प्रधान भी कही गई हैं क्योंकि इनमें प्रत्यय के साथ कारक, समास अथवा विभक्ति का भी पुट मिलता है। जापानी और कोकेशी भाषाएं विभक्ति की ओर, हाउसा व्यास की ओर, तथा वास्क परिवार की भाषाएं समास की ओर झुकी हैं।

अन्त योगात्मक या पर प्रत्यय प्रधान – इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व केवल अन्त में आता है। यूराल - अल्टाइक तथा द्रविड़ परिवार की भाषाएं अन्तयोग के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यूराल - अल्टाइक की तुर्की भाषा से उदाहरण -

इव - घर, एवलेर - कई घर, इवलेर इम = मेरे घर

द्रविड़ परिवार की कन्नड़ भाषा के उदाहरण -

सेवक क (कर्ता कारक)

सेवक रन्नु (कर्म कारक)

सेवक रिन्द (करण कारक)

सेवक गे (सम्प्रदान कारक)

आंशिक योगात्मक या ईषत् प्रत्यय प्रधान – इस वर्ग की भाषाओं में योग और अयोग दोनों के ही चिह्न मिलते हैं पर ये भाषाएं योगात्मक भाषाओं और उनमें भी अश्लिष्ट भाषाओं से भी कुछ समानता रखती हैं। बास्क, हौसा, जापानी, न्यूजीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषाएँ आंशिक योगात्मक हैं।

कुछ भाषाएं सर्वयोगात्मक या सर्व-प्रत्यय प्रधान भी हैं जिनमें आदि, मध्य और अन्त तीनों प्रकार के योग होते हैं। मलायन भाषाएं इसी वर्ग की हैं।

श्लिष्ट योगात्मक अथवा विभक्ति प्रधान भाषाएँ—

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व (प्रत्यय) को जोड़ने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग में कुछ विकार आ जाता है किन्तु सम्बन्ध तत्त्व अलग ही दिखाई देता है। जैसे अरबी में क़-त-ल (मारना) धातु से क़तल (खून) क़ातिल- (मारने वाला) क़िताल (शत्रु) तथा यक़्तुलु (वह मारता है) आदि बनते हैं। संस्कृत में ईश्वर शब्द से ऐश्वर्य और गम्भीर से गाम्भीर्य शब्द बने हैं। इनमें स्पष्टतः 'य' प्रत्यय जुड़ा दिखाई देता है। ईश्वर की 'ई' तथा गम्भीर के 'ग' में विकार होकर क्रमशः 'ऐ' और 'गा' बन गया है। सामी हामी और भारोपीय परिवार की भाषाएं इसी वर्ग में आती हैं। इस वर्ग की भाषाएं संसार में अत्यधिक समुन्नत हैं।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के भी दो उपविभाग हैं। 1. अन्तर्मुखी श्लिष्ट -

इनमें जोड़े हुए भाग अर्थतत्त्व के बीच में घुलेमिले हुए होते हैं। सामी परिवार की भाषाएं इसी प्रकार की हैं। 2. बहिर्मुखी श्लिष्ट- इनमें जोड़े हुए भाग अधिकतर मूल भाग के अन्त में आते हैं। संस्कृत आदि प्राचीन भाषाएं इस वर्ग में आती हैं।

अन्तर्मुखी श्लिष्ट –

अरबी भाषा इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है। संबंध तत्व प्रायः स्वर होता है जो व्यंजनों में घुला मिला होता है। उदाहरण के लिए क्-त्-ल् से बने हुए शब्दों क़तल, क़ातिल, क़त्ल आदि को लिया जा सकता है। अन्तर्मुखी योगात्मक भाषाएँ भी दो तरह की हैं - संयोगात्मक और वियोगात्मक। अरबी एवं सामी आदि प्राचीन भाषाओं का रूप संयोगात्मक था क्योंकि इनमें अलग से संबंधतत्त्व लगाने की आवश्यकता न थी। आज ये भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं और इनमें अलग से सहायक शब्द लगाने पड़ते हैं। सहायक शब्द तभी लगाने पड़ते हैं जब प्रत्येक शब्द अपने में स्वतन्त्र होता है और प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होने से वह भाषा वियोगात्मक ही होगी। बाद की हिब्रू भाषा इसी प्रकार की है।

बहिर्मुखी श्लिष्ट -

भारोपीय परिवार की भाषाएँ बहिर्मुखी श्लिष्ट हैं। इसके भी दो उपविभाग हैं 1. संयोगात्मक- भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि भाषाएँ जिनमें सहायक क्रिया और परसर्ग आदि की आवश्यकता न थी। जैसे - संस्कृत के 'सः गच्छति' वाक्य के सः में प्रथमा विभक्ति और गच्छति में ति प्रत्यय संयोगात्मक रूप में हैं। आज भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं और विभक्तियां घिस कर लुप्त हो गई हैं। अंग्रेजी हिन्दी, बंगला आदि वियोगात्मक भाषाएँ हैं किन्तु लिथुआनियन भाषा आज भी संयोगात्मक है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कोई भी भाषा पूर्णरूप से अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट, अयोगात्मक या योगात्मक नहीं कही जा सकती। किसी वर्ग या उपवर्ग के लक्षण किसी भाषा में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में मिलने पर प्रायः वह भाषा उस वर्ग या उपवर्ग आदि की मान ली जाती है। कहीं कहीं अपवाद स्वरूप भी किसी वर्ग या उपवर्ग आदि के उदाहरण मिल जाते हैं।

– सावित्री सक्सेना

उसका ...
के यह :
स्रोत को
इससे ...
ही ...
...
...
की ...
की है
स्थान
समानता
आधार
अवश्य
कि ...
के ...
सकती
1
में नहीं
.2
6 ...
और 6
3

पारिवारिक वर्गीकरण

17वीं सदी में जब योरोपीय विद्वानों को संस्कृत का पता चला और उन्होंने उसका ग्रीक और लैटिन से तुलनात्मक अध्ययन किया तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह समानता आकस्मिक नहीं है एवं निश्चित रूप से इन सभी भाषाओं का स्रोत कोई एक मूल भाषा है। यहीं से भाषाओं के वर्गीकरण का सूत्रपात हुआ। इससे पूर्व प्रायः प्राचीन धार्मिक विद्वान संसार की सभी भाषाओं का मूल एक ही भाषा मानते थे। कुछ इनका स्रोत संस्कृत भाषा को मानते थे तो अन्य इन्हें हिब्रू, फीनीशियन या अरबी को मूल भाषा मानते थे।

भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण में भाषाओं को परिवारों में बांटा जाता है। एक भाषा से निकली बोलियों और भाषाओं को एक परिवार का कहा जाता है। यह जानने के लिए कि कौन कौन सी भाषाएं एक परिवार की हैं, दो समानताओं को ध्यान में रखा जाता है, आंगिक समानता एवं स्थानिक समानता।

आंगिक समानता में ध्वनि, शब्द, रूप रचना, वाक्य रचना एवं अर्थ की समानता आती है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है रूप रचना की समानता, इसके बाद आधारभूत शब्दों की समानता आती है, शेष गौण होते हुए भी विचारणीय अवश्य है।

ध्वनि की समानता पर विचार करते समय यह तो देखना ही पड़ता है कि कौन कौन सी ध्वनियाँ समान हैं, साथ ही ध्वनि में असमानताओं के कारणों पर भी ध्यान देना पड़ता है। यह असमानता तीन कारणों से हो सकती है—

1 लोप के कारण – मूल भारोपीय भाषा के अनेक शब्द योरोपीय भाषाओं में नहीं हैं। जैसे - संस्कृत की ऋ हिन्दी में आकर लुप्त हो गई है।

2 परिवर्तन के कारण– संस्कृत का ट (शाटिका) र्द (कपर्दिका) ढ (मूढ) थ (क्वाथ) र्ध (सार्ध) आदि हिन्दी में क्रमशः ड़ (साड़ी, कौड़ी) और ढ़ (मूढ़, काढ़ा, साढ़े) हो गई हैं।

3 प्रभाव के कारण- एक भाषा के प्रभाव के कारण दूसरी भाषाओं में

कुछ ऐसी ध्वनियों वाले शब्द आ जाते हैं जो मूलत: उस भाषा में नहीं होते। हिन्दी में क़, ख़, ज़ तथा ऑ आदि ध्वनियाँ फ़ारसी और अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण आई हैं।

कभी कभी ध्वनि की समानता आकस्मिक भी हो सकती है अत: केवल ध्वनि की समानता परिवार- निर्णय में पर्याप्त नहीं होती।

शब्द समूह की समानता- किसी भी भाषा का शब्द समूह मोटे रूप में तीन तरह का होता है। 1. आधारभूत - जो भाषा के अपने शब्द होते हैं और उसको आधार होते हैं। ये अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं और इनमें परिवर्तन या प्रभाव की गुंजाइश कम होती है। संबन्धियों के नाम (माता पिता आदि) अंगों के नाम (हाथ पैर आदि) सर्वनाम (मैं, तुम, वह) संख्या वाचक शब्द (एक, दो, तीन आदि) दैनिक जीवन की क्रियायें (खाना, पीना, सोना आदि) आदि भाषा के आधारभूत शब्द होते हैं। 2. उच्च- अपेक्षाकृत कम आधारभूत होने से इनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है। 3. उच्चतम - कपड़े, खान-पान, दवा- दारू शिक्षा, न्याय, कला शिल्प आदि के शब्द इस श्रेणी में आते हैं। इनमें परिवर्तन तथा प्रभाव की गुंजाइश सबसे अधिक होती है। हिन्दी में पेन, कॉलेज, इंजेक्शन, बी० ए०, अदालत आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। प्राय: आधारभूत शब्द ही पारिवारिक कोटिक्रम की दृष्टि से विचार योग्य होते हैं। कभी कभी शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन बहुत अधिक हो जाता है जैसे संस्कृत - शतम्, लैटिन - केंतुम, हिन्दी-सौ, भोजपुरी-है। अत: तुलना में इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

शब्द समूह की समानता में यह ध्यान रखना चाहिए कि इस तरह की समानता उन शब्दों में होनी चाहिए जो इन भाषाओं के अपने हों। अन्य भाषाओं के प्रभाव स्वरूप आए शब्दों की समानता के आधार पर भाषाओं को एक परिवार का नहीं माना जा सकता। वस्तुत: शब्द की समानता कई कारणों से होती है-

1. एक परिवार की भाषा होने के कारण- जैसे संस्कृत-पितृ, ग्रीक pater, लैटिन - pater फ्रेंच - pere स्पैनिश - padre, जर्मन - vater, अंग्रेज़ी-father फ़ारसी- पिदर आदि।

2. ध्वनि परिवर्तन के समान हो जाने के कारण - संस्कृत-निकट, भोजपुरी-नियर तथा अंग्रेज़ी - near अथवा हिन्दी आम (संस्कृत-आम्र) एवं अरबी आम।

3. किसी अन्य भाषा से उन भाषाओं में आने के कारण जैसे - अंग्रेज़ी से हिन्दी तथा तमिल दोनों में पेंट शब्द का आगमन । अरबी शब्द इलाक :- हिन्दी मे इलाका तथा तमिल मे इलाका है ।

4. एक भाषा से दूसरी भाषा में आने के कारण - जैसे तुर्की (चाकू) से हिन्दी में आया शब्द चाकू अथवा द्रविड भाषाओं में पिल्ला तथा हिन्दी में पिल्ला।

5. संयोगवशात - और मिस्री म्याऊँ, हिन्दी म्याऊँ एवं चीनी म्याऊँ = बिल्ली।

रूप रचना की समानता—

रूप रचना में क्रिया-रूप तथा सर्वनाम रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये इसके अन्तर्गत मुख्यतः उपसर्ग तथा प्रत्यय आते हैं। रूप रचना की समानता पारिवारिक वर्गीकरण के लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रभाव की गुंजाइश कम होती है। उदाहरण के लिए - तुलना का प्रत्यय तर (संस्कृत- उच्चतर, फारसी- बेहतर, अंग्रेज़ी- better, जर्मन- lesser) एक पारिवारिकता को स्पष्ट रूप से बताता है। कभी कभी ऐसी समानता प्रभाव के कारण भी हो सकती है जैसे - अरबी- इन्सानियत, हिन्दी अंग्रेजियत एवं बोरियत। अतः वर्गीकरण में यह ध्यान में रखना चाहिए कि समानता प्रभाव की न हो।

वाक्य-रचना में परिवर्तन बहुत होता है तथा इस पर दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी बहुत पड़ता है फिर भी मूलभूत समानताएं कुछ हद तक बनी रहती है।

अर्थ की समानता—

एक परिवार की भाषाओं में मिलने वाली अर्थ की समानता भी पारिवारिक वर्गीकरण का अच्छा आधार सिद्ध होता है, किन्तु यह समानता खोजते समय अर्थ परिवर्तन का भी ध्यान रखना चाहिए - जैसे - संस्कृत - मृग, फ़ारसी - 'मुर्ग़'; संस्कृत - वदन, फ़ारसी - बदन।

इस प्रकार सभी प्रकार के परिवर्तनों तथा प्रभावों का विचार करते हुए भाषाओं के बीच मूलभूत समानता खोजनी चाहिए। केवल एक ही आधार पर कभी भी भाषाओं को एक परिवार का नही मानना चाहिए।

स्थानिक समीपता— एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में, कुछ अपवादों को

छोड़कर स्थान की समीपता भी मिलती है। इसी आधार पर भारोपीय परिवार का मूल स्थान यूरोप या एशिया यूरोप की सीमा पर माना जाता है क्योंकि उसके आस पास इस परिवार की काफी भाषाएं बोली जाती हैं। भारत के आस पास ऐसा नहीं है, अतः भारत को इसका मूल स्थान नहीं माना जा सकता। कभी कभी एक से अधिक परिवार की भाषाओं मे भी स्थानिक समीपता मिलती है जैसे भारोपीय परिवार की ताजिक और यूराल अल्टाइक परिवार की उजबेक।

भाषा खण्ड —

चार भाषा-खण्ड

1. अफ्रीका खण्ड- मे चार भाषा परिवार आते है- बुशमैन, बांटू, सूडान, सेमैटिक हैमेटिक। कुछ विद्वान सेमेटिक- हैमेटिक को अलग परिवार मानते है।

2. यूरेशिया खण्ड- मे नौ भाषा परिवार है- हैमेटिक- सेमेटिक, काकेशियन, यूराल- अल्टाइक, चीनी, द्रविड़, आस्ट्रो-एशियाटिक, जापानी, कोरियाई, मलय- पालिनेशियन, भारोपीय।

3. प्रशांत महासागरीय खण्ड- मुख्यतः मलय- पालिनेशियन। कुछ भाषा- वैज्ञानिक इसे कई परिवारों का समूह मानते है।

4. अमरीकी खण्ड- अमरीकी परिवार। कुछ इसे लगभग सौ परिवार मानते है।

मुख्य- भाषा परिवार

भारोपीय, द्रविड़, चीनी, सेमेटिक- हैमेटिक, यूराल- अल्टाइक, जापानी, कोरियाई, मलय-पालिनेशियन, आस्ट्रो एशियाटिक, बुशमैन, बांटू, सूडान, अमरीकी।

द्रविड़- परिवार-

क्षेत्र- दक्षिणी भारत, उत्तरी लंका, लक्षद्वीप, बलूचिस्तान मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा।

मुख्य भाषाए एवं उनके क्षेत्र-

तमिल (तमिलनाडु) मलयालम (केरल) तेलुगु (आंध्र प्रदेश) कन्नड (कर्नाटक) गोंड (बुंदेलखंड एवं आसपास का क्षेत्र) ओरांव (बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश) ब्राहुई (बलूचिस्तान)।

यह परिवार वाक्य तथा स्वर-अनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता है।

विशेषताएं —

1. प्रधानतः इस परिवार की भाषाएं अश्लिष्ट अन्तः योगात्मक हैं। मूल शब्द और धातु में प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुड़ते चले जाते हैं जैसे पालन-गल, पालन-गल-गई, पालन-गल-उदीय आदि। कभी कभी अपवाद स्वरूप उपसर्ग भी लगता है। जैसे अदु (वह वस्तु) इदु (यह वस्तु) तथा एदु (कौन वस्तु)।

2. संयोग स्पष्ट होता है, मूल शब्द में किसी प्रकार का विकार नहीं आता।

3. इस परिवार की भाषाओं में बड़े से बड़ा समास सरलता से बना लिया जाता है।

4. शब्द के अन्तिम व्यंजन के उच्चारण में अनेक शब्दों में एक उकार की ध्वनि जोड़ दी जाती है। कुछ भाषाओं यह ध्वनि केवल लिखने में ही जोड़ी जाती है कुछ में लिखने बोलने दोनों में। जैसे राम रामु, आप आपु।

5. यूराल-अल्टाई परिवार की भांति यहां भी स्वर-अनुरूपता मिलती है। मूल शब्द के स्वर के वज़न पर अधिकतर प्रत्ययों का रूप संयोग के समय परिवर्तित कर लिया जाता है।

6. शब्दारंभ में घोष व्यंजन का अभाव, पर बीच में आने वाले अकेले या अनुनासिक व्यंजन के साथ घोष व्यंजन अवश्य रहते हैं। तमिल में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक देखने में आती है।

7. मूर्धन्य ध्वनियों (टवर्ग) का प्राधान्य। कुछ विद्वानों का कहना है कि संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियां इसी परिवार के प्रभाव से आई हैं।

8. इन में वचन दो होते हैं। नपुंसक शब्द प्रायः एकवचन में होता है। उत्तम पुरुष सर्वनाम में बहुवचन के दो रूप होते हैं।

9. लिंग तीन होते हैं।

10. संज्ञा के दो वर्ग होते हैं - उच्च या सज्ञानी, निम्न या अज्ञानी। कुछ संज्ञाएं क्रिया का भी कार्य करती हैं।

द्रविड़ परिवार का संस्कृत पर प्रभाव —

1. आर्य परिवार में मूर्धन्य ध्वनियां इसी परिवार से आई हैं।

2. ध्वनि-परिवर्तन में र के स्थान पर ल और ल के स्थान पर र आता है।

जैसे - गला - गर, हरिद्रा - हल्दी। यूँ ऐसा मूल भारोपीय परिवार में भी था।

3. मराठी आदि में तीन लिंग इसी के प्रभाव से हैं।

4. आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित माप (सेर-छटांक, रुपया-आना) इसी की देन है।

5. परसर्गों का प्रयोग,

6. भारतीय आर्य भाषाओं में तिङन्त की अपेक्षा कृदन्ती रूपों का प्रयोग,

7. सहायक क्रिया और संयुक्त क्रिया का एक साथ प्रयोग द्रविड़ परिवार के प्रभाव के फलस्वरूप मिलता है।

8. अटवी, आलि, नीर, मीन आदि कई शब्द इस परिवार की देन हैं।

द्रविड़ परिवार पर संस्कृत का प्रभाव —

1. तमिल का एक रूप शेन (कुर्ल) है जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।

2. मलयालम, कन्नड़, तेलुगु सभी में उदारता पूर्वक संस्कृत के शब्द लिए गए हैं।

चीनी / एकाक्षरी परिवार

इस परिवार में मुख्य भाषा चीनी है जिसके अधिकांश शब्द एकाक्षरी हैं अतः इस परिवार को चीनी या एकाक्षरी परिवार कहा जाता है।

मुख्य भाषाएं तथा क्षेत्र —

चीन, चीनी की मंदारिन, कैंटनी, फुकियन आदि। इनमें मुख्यतः 6 बोलियाँ हैं जिनमें मंदारिन ही आज की राष्ट्र भाषा तथा साहित्यिक भाषा है। इसके अतिरिक्त इस परिवार की अन्य भाषाएँ हैं - तिब्बती अथवा भोट (तिब्बत) बर्मी (बर्मा) स्यामी अथवा थई (स्याम) मैते अथवा मैईथेई (मणिपुर)। इस परिवार की गारो, बोडो, नागा, नेवारी आदि भाषाएं भारतीय सीमा के आस पास बोली जाती हैं।

विशेषताएं —

1. स्थान प्रधान या अयोगात्मक है। दो शब्द एक शब्द में नहीं मिलते। सम्बन्ध का पता बहुधा शब्द के स्थान से लगता है जैसे हुआ पओ मीन (राजा प्रजा की रक्षा करता है) तो मीन पओ हुआ का अर्थ होता है - प्रजा राजा की रक्षा करती है। वाक्य में अन्य कोई परिवर्तन न होकर केवल शब्दों का परिवर्तन होता है।

2. प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है और एक प्रकार से अव्यय होता है और जिसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।

3. इतने कम शब्दों से अधिक अर्थों की प्रतीति सुर या तान के प्रयोग से होती है। मंदारीन में पाँच सुर है, फुकिनी में आठ।

4. अर्थ में स्पष्टता लाने के लिए द्वित्व प्रयोग चलता है। एक शब्द के कई 2 अर्थ होते है जैसे ताओ - सड़क, झंडा, टकुच आदि; लू - ओस, जवाहर, सड़क आदि; अब यदि ताओ और लू दोनों शब्दों का प्रयोग किया जाए तो इनका अर्थ सड़क ही होगा। ऐसे प्रयोगों को ही द्वित प्रयोग कहते हैं। कभी कभी पर्यायवाची शब्दों के स्थान पर दूसरा अर्थ रखने वाले शब्द भी रख दिये जाते हैं जिनसे अर्थ स्पष्ट हो जाए जैसे पानी के साथ ठंडा या गर्म शब्द।

5. इन भाषाओं में व्याकरण नहीं होता। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकता के अनुसार संज्ञा, क्रिया या विशेषण बन जाते हैं। त का अर्थ बड़ा, बड़ाई, बड़ा होना आदि सभी होता है।

6. कुछ लोग चीनी को निपात प्रधान भाषा कहते हैं। चीनी शब्दों में दो वर्ग हैं एक पूर्ण दूसरा रिक्त। पूर्ण शब्द अर्थ तत्व रखता है जबकि रिक्त केवल संबंध प्रकट करता है। ऐसा नहीं है कि चीनी भाषा का शब्द-समूह इन दो भागों में बंटा है। आवश्यकता पड़ने पर पूर्ण शब्द भी रिक्त बना लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ - दिह शब्द (आना, वह, संबंध रखना) कभी 2 संबंध कारक की विभक्ति का भी काम करता है जैसे - मु दिह त्सु (माता का पुत्र)।

7. चीनी भाषा की पूर्ण शब्द भी दो तरह के होते हैं, 1. जीवित - जिनका प्रधान गुण क्रिया है, 2 मृत या जड़ - जो स्वयं कुछ नहीं कर सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्हीं मृत शब्दों पर करते हैं। यह विभाजन भी बहुत निश्चित नहीं है।

8. इन भाषाओं में अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का बाहुल्य मिलता है। इस परिवार की तिब्बती बर्मी आदि भाषाओं की लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की पुत्री हैं।

सेमेटिक - हैमेटिक परिवार -

कुछ भाषा वैज्ञानिक इन्हें दो परिवार मानते हैं जबकि अन्य एक ही परिवार की दो भाषाएँ मानते हैं। दोनों में पर्याप्त समानता है जिससे प्रतीत होता है कि ये कभी

एक ही परिवार की दो शाखाएँ रही होंगी।

क्षेत्र - उत्तरी अफ्रीका एवं पास का पश्चिम एशिया।

सेमेटिक - क्षेत्र - मिस्र, ईराक, अरब, सीरिया, फिलस्तीन, इथियोपिया, मोरक्को, अल्जीरिया; भाषाएँ - हिब्रू, अरबी, अक्कादियन (असीरियन या बेबिलोनियन)

हैमेटिक - भाषाएँ - प्राचीन मिस्री, कॉप्टिक, सोमाली, गल्ला, बेजा, भाषा, फुला।

इन सब भाषाओं में अरबी सभी दृष्टियों से सम्पन्न रही है। इसने योरोप और एशिया की दक्षिणी भाषाओं (अंग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि) को प्रभावित किया है। इसने फारसी एवं तुर्की को व्याकरणिक दृष्टि से भी प्रभावित किया है।

दोनों की सामान्य विशेषताएं - 1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक और अन्तर्मुखी हैं। इनमें पूर्व, मध्य, पर सभी में विभक्तियाँ लगती हैं पर अधिकतर संबंध तत्व भीतर होने वाले स्वर परिवर्तन से ही प्रकट हो जाता है। अरबी क़-त-ल से कितल, क़िताल, कुतिल, क़ातिल, क़तल।

2. क्रिया में काल का स्थान गौण और पूर्णता अपूर्णता का प्रमुख रहता है।

3. दोनों में बहुवचन बनाने के लिए प्रत्यय लगते हैं जिनका मूल लगभग एक ही है।

4. त दोनों में स्त्रीलिंग का चिह्न है। लिंग प्राकृतिक लिंग पर आधारित न होकर अन्य बातों पर होता है।

5. दोनों के सर्वनामों का मूल एक है।

सेमेटिक की विशेषताएँ -

1. धातु (धातु) प्रायः तीन व्यंजनों का होता है जैसे क् त् ब् (लिखना) द् ब् र् (बोलना)।

2. धातु में इन व्यंजनों में स्वर जोड़ कर पद (जिनमें अर्थ तत्त्व तथा संबंध-तत्त्व दोनों होते हैं) बनते हैं।

3. कभी कभी स्वर परिवर्तन से काम नहीं चलता तो उपसर्ग और प्रत्यय की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रेरणार्थक आदि के लिए क़् त् ल् में हि प्रत्यय जोड़ कर हिकितल।

4. भारतीय भाषाओं की तरह (जैसे अनु + करण + आत्मक + ता) यहाँ एक मूल में कई प्रत्यय एक साथ नहीं जुड़ते।

5. समास केवल दो शब्दों, वह भी केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का ही बनता है।

एक ही परिवार की दो शाखाएँ रही होंगी।

क्षेत्र- उत्तरी अफ्रीका एवं पास का पश्चिम एशिया।

सेमेटिक – क्षेत्र – मिस्र, ईराक, अरब, सीरिया, फिलस्तीन, इथियोपिया, मोरक्को, अल्जीरिया; भाषाएँ – हिब्रू, अरबी, अक्कादियन (असीरियन या बेबिलोनियन)

हैमेटिक – भाषाएं - प्राचीन मिस्री, कॉप्टिक, सोमाली, गल्ला, बेजा, मासा, फ़ुला।

इन सब भाषाओं में अरबी सभी दृष्टियों से सम्पन्न भाषा है। इसने योरोप और एशिया की दक्षिणी भाषाओं (अंग्रेज़ी, स्पेनिश, फ्रेंच, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि) को प्रभावित किया है। इसने फ़ारसी एवं तुर्की को व्याकरणिक दृष्टि से भी प्रभावित किया है।

दोनों की सामान्य विशेषताएं – 1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक और अन्तर्मुखी हैं। इनमें पूर्व, मध्य, पर तीनों में विभक्तियां लगती हैं पर अधिकतर संबंध तत्व भीतर होने वाले स्वर परिवर्तन से ही प्रकट हो जाता है। अरबी क़्-त्-ल् से कितल, क़िताल, कुतिल, क़ातिल, क़तल।

2. क्रिया में काल का स्थान गौण और पूर्णता अपूर्णता का प्रमुख रहता है।

3. दोनों में बहुवचन बनाने के लिए प्रत्यय लगते हैं जिनका मूल लगभग एक ही है।

4. न दोनों में स्त्रीलिंग का चिह्न है। लिंग प्राकृतिक लिंग पर आधारित न होकर अन्य बातों पर होता है।

5. दोनों के सर्वनामों का मूल एक है।

सेमेटिक की विशेषताएं –

1. मादा (धातु) प्राय: तीन व्यंजनों का होता है जैसे क् त् ब् (लिखना) द् ब् र् (बोलना)।

2. मादा में इन व्यंजनों में स्वर जोड़ कर पद (जिनमें अर्थ तत्त्व तथा संबंध-तत्त्व दोनों होते हैं) बनते हैं।

3. कभी कभी स्वर परिवर्तन से काम नहीं चलता तो उपसर्ग और प्रत्यय की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रेरणार्थक आदि के लिए क़् त् ल् में हि प्रत्यय जोड़ कर हिकितल।

4. भारतीय भाषाओं की तरह (जैसे अनु + करण + आत्मक + ता) यहां एक मूल में कई प्रत्यय एक साथ नहीं जुड़ते।

5. समास केवल दो शब्दों, वह भी केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का ही बनता है।

जैसे - मलकह, इसरायल। भारोपीय समासों से यहाँ की पद्धति उल्टी है। संस्कृत में दीर्घ-सुत, यहाँ सुतदीर्घ बनता है। यही प्रभाव फ़ारसी उर्दू पर देखने को मिलता है जैसे- शाहे फ़ारस।

6 स्त्री-लिंग का चिह्न 'त' ध्वनि सेमेटिक परिवार में कुछ भाषाओं में विकसित होकर 'थ' या 'ह' हो गई है। अरबी में मलक (राजा) का स्त्रीलिंग मलकह होता है मलकत नहीं।

सेमेटिक की विशेषताएँ-

1. भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।

2. पद बनाने के लिए उपसर्ग एवं प्रत्यय दोनों लगाए जाते हैं। ऐसा क्रिया में ही होता है। संज्ञा में मात्र प्रत्यय लगाये जाते हैं।

3 स्वर- परिवर्तन मात्र से अर्थ परिवर्तन हो जाता है। जैसे गल (भीतर जाना) से गेलि (भीतर रखना)।

4. जोर देने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे लब लब (बार बार मोड़ना) एवं गोई से गेगोई (बार 2 काटना)

5. क्रिया रूपों से काल का ठीक 2 बोध नहीं होता अतः काल का ठीक बोध कराने के लिए सहायक शब्दों का सहारा लिया जाता है।

6. इन भाषाओं में लिंग भेद भारोपीय भाषाओं की तरह बहुत अव्यवस्थित नहीं है। लिंग भेद नर मादा पर आधारित नहीं है। सामान्यतः बड़ी और बल-युक्त वस्तुएँ पुल्लिंग में होती हैं जैसे, तलवार, चट्टान, हाथी, कड़ी और मोटी घास। निर्बल, छोटी और प्यार करने योग्य कोमल वस्तुएँ स्त्रीलिंग में होती हैं। जैसे - चाकू, पतली घास, पत्थर के टुकड़े, छोटे 2 जानवर।

7. बहुवचन बनाने के कई तरीके हैं। बहुवचन समूहात्मक और असमूहात्मक दो तरह का होता है जैसे लिसा - आंसू (एकवचन) लिस्सु (आंसू का बहुवचन), लिस्से (आंसू का समूहात्मक बहुवचन)। छोटे पदार्थ जैसे कीड़े बहुवचन माने जाते हैं। एकवचन बनाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं- बिल (पतंगे)- बिला (पतंगा)। इस परिवार की केवल भाभा भाषा में द्विवचन मिलता है।

8. इस परिवार की एक अभूतपूर्व विशेषता है वह यह कि संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित हुई समझी जाती है। एकवचन पुल्लिंग

संज्ञा बहुवचन बनने पर स्त्रीलिंग में हो जाती है। इस नियम को ध्रुवाभिमुख नियम कह जाते हैं। जैसे - हेर्योद (माता - स्त्रीलिंग) बहुवचन बनने पर - हेतिम्न-कि (माताएं) - स्त्रीलिंग की जगह पुल्लिंग हो जाती है।

यूराल - अल्टाइक -

क्षेत्र काल की दृष्टि से यह भाषा परिवार भारोपीय भाषा परिवार के बाद सबसे बड़ा भाषा - परिवार है एवं यूराल - अल्टाई पर्वत के बीच तुर्की, सोवियत संघ, हंगरी, फिनलैंड आदि में फैला है। कुछ भाषा - वैज्ञानिक यूराल, अल्टाईक को अलग अलग परिवार मानते हैं।

भाषाएं - यूराली (फिनो उग्रिक), फिनिश (फिनलैंड) इस्तोनियन (इस्तोनिया) हंगेरियन (हंगरी), अल्टाई, तुर्की (तुर्की) रोजर बैजानी (रोजरबैजान) उज़बेक (उज़बेकिस्तान) मंगोलियन (मंगोलिया) किरगिज़ (किरगिजिया) एवं कज़ाक (कज़ाकिस्तान)

विशेषताएं -

1. अश्लिष्ट अन्त: योगात्मक,
2. व्याकरणिक लिंग का अभाव,
3. कुछ भाषाओं में 23 कारकों की स्थिति,
4. इस्तोनिया आदि कुछ भाषाओं में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत रूपों का प्रयोग बहुत सामान्य
6. भाषाओं में स्वर-अनुरूपता। स्वरों के दो वर्ग - लघु गुरु। मूल धातु में प्रत्यय जोड़ने पर उन प्रत्ययों को धातु में आने वाले स्वरों के समान कर लिया जाता है। धातु में गुरु हो तो प्रत्ययों के स्वर भी गुरु कर लिये जाते हैं अन्यथा ह्रस्व ही रहते हैं। ऐसा उच्चारण सौकर्य के लिए किया जाता है। जैसे - यज से मक् लगाकर यज़मक् बनता है किन्तु सेव से मक् लगाने पर सेवमक् नहीं सेवमेक् बनेगा।

काकेशियन परिवार-

क्षेत्र - कैस्पियन सागर और कृष्ण सागर के बीच, काकेशस पर्वत का पहाड़ी भाग और आस पास का भूभाग। प्रमुख भाषाएं - जार्जियन, मिंग्रेलियन, चेचेन, कबार्दियन अवर, अबखासियन।

विशेषताएं - 1. अश्लिष्ट योगात्मक जिनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों लगते हैं।

चीन आदि में स्वरों की कमी है। 3. कारकों की संख्या काफी है। अवर में तीस कारक हैं। 4. कुछ जैसे चीन में दः लिङ्ग है। 5. सर्वनाम और क्रिया रूप एक में जुड़ जाते हैं। 6. इनमें क्रिया रूप बहुत जटिल होते हैं। मूल धातु का इनमें पता नहीं चलता।

जापानी कोरियाई परिवार –

क्षेत्र – जापान, कोरिया तथा आस पास के कुछ द्वीप।

प्रमुख भाषाएँ – जापानी तथा कोरियाई।

कोरियाई लिपि ब्राह्मी से विकसित है। जापानी की अक्षर माला चीनी के आधार पर बनाई गई है और उसे 'इइरुफ़ो' कहते हैं।

विशेषताएँ –

1. अश्लिष्ट योगात्मक,
2. अनेकाक्षर शब्द,
3. संयुक्त व्यंजनों का कम प्रयोग,
4. जापानी में अनेक शब्दों में 'र' के स्थान पर 'ल' और ल के स्थान पर र का प्रयोग,
5. शब्दों में प्रायः सभी अक्षरों पर समान बल।
6. कुछ स्वर अतिह्रस्व भी हैं जिनका उच्चारण प्रायः नहीं होता – अरिमसु का उच्चारण अरिमास होता है।
7. व्याकरणिक लिंग वचन पुरुष की धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है।

मलय – पालिनेशियन परिवार –

क्षेत्र – पश्चिम में मैडागास्कर से लेकर पूरब में ईस्टर द्वीप तक, उत्तर में फ़ारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूज़ीलैंड तक, जावा सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, फ़िलीपीन, न्यूज़ीलैंड, हवाई, मलाया, फ़ारमोसा।

मुख्य भाषाएँ – पश्चिमी – मलय, इंडोनेशियन, जावानीज़, बलीनीज़।
पूर्वी – हवाइयन, समोअन, माओरी, फ़ीजियन, न्यूज़ीलैंडी।

विशेषताएँ –

1. अश्लिष्ट योगात्मक,
2. मूल शब्द एवं धातुएँ दो अक्षरों की,
3. प्रथम अक्षर पर बलाघात,
4. पद रचना के लिए आदि मध्य अन्त प्रत्यय का प्रयोग,
6. बहुवचन बनाने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग,

6. क्रिया के कुछ ऐसे रूप जो अन्य परिवारों में नहीं मिलते।

इस परिवार की जावा, सुमात्रा, बाली आदि भाषाओं में संस्कृत के बहुत ज्यादा शब्द हैं। अनेक स्थानों व व्यक्तियों के नाम भी मूलतः संस्कृत के हैं।

आस्ट्रो - एशियाटिक परिवार-

अन्य नाम आस्ट्रिया अथवा आग्नेय परिवार। पहिले इस परिवार का क्षेत्र विस्तृत था। अब स्याम, ब्रह्मा, नीकोबार, कम्बोडिया, बंगाल, बिहार मध्यप्रदेश, तमिलनाडु में ही सीमित हो गया है।

भाषाएँ - पश्चिमी - मुंडा या कोल, इस वर्ग की प्रमुख भाषाएँ संथाली (पूर्वी बिहार, पश्चिमी बंगाल) मुंडारी (पश्चिमी बंगाल उड़ीसा मध्यप्रदेश, तमिलनाडु) तथा भूमिज आदि हैं। पूर्वी- ब्रह्मा और स्याम की मॉन तथा ख्मेर तथा अन्नाम की अनामी।

विशेषताएँ —

1. अश्लिष्ट योगात्मक
2. अधिक प्राण युक्त महाप्राण ध्वनियाँ
3. अर्ध व्यंजनों की उपस्थिति
4. मध्य प्रत्यय का प्रयोग (मंभी - मपंभी)
5. द्विवचन का प्रयोग
6. दो लिंग
7. शब्दभेद का निर्णय प्रयोग से; एक ही शब्द प्रसंगानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण सभी का कार्य कर लेता है।

बुशमैन परिवार-

क्षेत्र- दक्षिणी अफ्रीका में ऑरेंज नदी से नगामी झील तक। बुशमैन जाति के नाम पर परिवार का नाम। मुख्य भाषाएँ- ऐकवे, औकवे, हॉटेंटॉट। परिवार पर बांटू सूडान तथा हैमेटिक भाषाओं का प्रभाव।

विशेषताएँ—

1. अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियों का प्रयोग.
2. लिंग का आधार सजीवता, निर्जीवता।
3. बहुवचन बनाने के लिए 50 से भी ज़्यादा नियमों का प्रयोग, एक- पुनरुक्ति

बांटू परिवार-

150 भाषाओं के इस परिवार में आदमी के लिए बांटू शब्द का प्रयोग

इसी से भाषा परिवार का नाम भी बांटू परिवार।
मुख्य भाषाएँ - काफिर, स्वाहिली, जुलु, कांगो सेसूतो, रुआन्दा, उम्बुन्दु आदि हैं।
विशेषताएँ -

1. अधिकतर पूर्व योगात्मक,
2. संयुक्त व्यंजन का अभाव, शब्द प्राय: स्वरान्त, भाषा बड़ी मधुर,
3. दक्षिणी पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ
4. ध्वनि-अनुरूपता की प्रवृत्ति,
5. व्याकरणिक लिंग विचार प्राय: नहीं के बराबर।

सूडान परिवार-

सात परिवारों का वर्ग, चार सौ भाषायें। क्षेत्र - अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर हैमेटिक भाषा क्षेत्र के दक्षिण पूर्व से पश्चिम तक।
मुख्य भाषाएँ - हौसा, मोंडगइ, इवे, बांटू, नुबियन, यरुबा, अशान्ती आदि।
विशेषताएँ -

1. मुख्यत: अयोगात्मक,
2. धातुएँ प्राय: एकाक्षर,
3. विभक्तियों का अभाव,
4. अर्थों को व्यक्त करने के लिए सुरों का प्रयोग,
5. बहुवचन का कम प्रयोग।
6. व्याकरणिक लिंग का अभाव।
7. छोटे और सरल वाक्य
8. कुछ ऐसे व्यंजक शब्द जो अपनी ध्वनि से गति रूप स्वाद गंध आदि की सटीक व्यंजना कर देते हैं। ऐसे शब्द विशेषण या क्रिया विशेषण होते हैं।

अमरीकी परिवार-

अमरीका में मुख्यत: अंग्रेजी, स्पेनिश, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, जर्मन तथा इटालियन भाषाएँ बोली जाती हैं। आदिवासियों द्वारा व्यवहृत करीब 1000 स्थानीय भाषाएँ। क्षेत्र - उत्तरी अमरीका, मध्य अमरीका, दक्षिणी अमरीका, ग्रीनलैंड एवं आस पास के द्वीप। मुख्य भाषाएँ एस्किमो (ग्रीनलैंड) अथवस्कन (कनाडा तथा संयुक्त राष्ट्र, नहुअत्ल (मैक्सिको) करीब, चेरोकी (पनामा के पूर्व) गुआनी, अरुक मुस्को आदि। सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। कुछ स्थानों पर स्त्रियाँ एक भाषा

बोलती हैं और पुरुष दूसरी। एकबार अबरक-भाषाभाषी लोगों पर करीब भाषाभाषी लोगों की विजय हुई। उन्होंने पुरुषों को मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिया। आज भी स्त्रियाँ अबरक भाषा बोलती हैं और पुरुष 'करीब'। स्त्री पुरुष दोनों भाषाओं को समझ लेते हैं पर प्रयोग करते हैं एक का। स्वाभाविक है कि दोनों भाषाएँ एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं।

—सावित्री सक्सेना

भारोपीय भाषा परिवार
शिष्य
भाषाओं
९०

भारोपीय भाषा-परिवार

भारत से लेकर प्रायः योरोप तक बोले जाने के कारण इस भाषा परिवार का नाम भारोपीय भाषा परिवार पड़ा। सबसे पहिले इस कुल का नाम इंडो-जर्मनिक पड़ा था। जर्मन विद्वानों ने इसका लगभग दो सौ वर्षों तक अध्ययन किया और पाया कि इस परिवार की भाषाएं पूर्व में तो भारत तक और पश्चिम में जर्मन तक बोली जाती हैं अतः इसका नाम इंडोजर्मनिक पड़ना स्वाभाविक ही था। क्योंकि इस परिवार की केल्टी शाखा की भाषाएँ जर्मनी की भाषाएँ नहीं थीं अतः इंडोजर्मनिक नाम छोड़ दिया गया। इसके बाद इसका नाम इंडोकेल्टिक पड़ा। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से यह नाम अधिक उपयुक्त था किन्तु इससे भाषा-परिवार का वास्तविक क्षेत्र अवगत नहीं होता था अतः यह नाम भी . . हो गया।

इस कुल की मुख्य भाषा संस्कृत के आधार पर सांस्कृतिक नाम भी सोचा गया पर संस्कृत भाषा मूल भाषा न थी अतः यह नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हुआ। अन्य नामों जैसे- जैफाइट, काकेशियन, आर्य और इंडोयोरोपियन में से इंडोयोरोपियन नाम को ही अधिक स्वीकृति मिली।

भारोपीय-परिवार की विशेषताएं –

1. यह परिवार श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति प्रधान) है। विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अन्त में लगती हैं। इस परिवार की भाषाएं आरम्भ में योगात्मक थीं पर धीरे 2 दो एक को छोड़ कर सभी वियोगात्मक हो गईं फलतः परसर्ग तथा सहायक क्रिया की आवश्यकता पड़ने लगी साथ ही कुछ भाषाएं स्थान प्रधान हो गईं।

2. धातुएं एकाक्षर होती हैं उनमें प्रत्यय जोड़ कर पद या शब्द बनते हैं धातु में जोड़े जाने वाले प्रत्यय कृत प्रत्यय कहलाते हैं और कृत लगने के बाद जोड़े जाने वाले प्रत्यय तद्धित प्रत्यय कहलाते हैं। तद्धित के भी तीन भेद हैं जो क्रम से शब्द (word building suffixes) कारक के उपयुक्त पद (case indicating suffixes) और कालानुसार क्रिया (verbal suffixes) बनाते हैं।

3. मूल भारोपीय प्रत्यय स्वतन्त्र शब्द थे। कालान्तर में ध्वनि परिवर्तन के कारण उनका आधुनिक रूप बच गया। आज जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं उनके स्वतन्त्र अर्थ का पता नहीं है। एक दो के विषय में (जैसे अंग्रेज़ी का by- many, हिन्दी का में और से) विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है पर शेष संदिग्ध हैं।

4. इस परिवार में पूर्व-विभक्तियाँ अथवा पूर्वसर्ग बांटू आदि कुलों की भाँति सूचना

(सम्बन्ध सूचना) देने के लिए या वाक्य बनाने के लिए प्रयुक्त नहीं होते। यूँ उनका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता है किन्तु उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार आदि में वि, आ और परि का प्रयोग हुआ है।

5. इस परिवार में समास-रचना की अद्भुत शक्ति है। समास में विभक्तियों का लोप हो जाता है और इसका अर्थ वह नहीं रहता जो उसके प्रत्येक शब्द का अलग रखने पर होता है। उनमें नया अर्थ समाहित हो जाता है। किसी टापू में बसे एक वेल्श गाँव का नाम (जो समास से बना है) 58 अक्षरों का बना है।

6. विभिन्न स्थानों पर विकसित होने के कारण इस परिवार की सभी भाषाएँ प्रत्यय बहुल हो गई हैं। किसी भी परिवार में प्रत्ययों की संख्या इतनी अधिक नहीं है।

7. इस परिवार की भाषाओं में स्वर-परिवर्तन सम्बन्ध तत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। कालान्तर में प्रत्ययों का लोप हो गया और वे स्वर-परिवर्तन ही संबंध-परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेजी की कुछ क्रियाओं में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है। जैसे- drink, drank drunk. यहाँ i का a और u में परिवर्तन काल सम्बन्धी परिवर्तन को भी सूचित करता है।

मूल-भारोपीय भाषा –

इस परिवार की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन भाषाओं का स्रोत कोई आदिम भाषा रही होगी। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक और लैटिन के सर्वाधिक प्राचीन लेखों के तुलनात्मक अध्ययन से मूल भारोपीय भाषा के रूप का आविष्कार किया गया है जो अनुमान पर आधारित होते हुए भी वैज्ञानिक और तर्क-पुष्ट है।

मूल भारोपीय भाषा का ध्वनि समूह –

स्वर – मूल स्वर, 1. अति ह्रस्व या ह्रस्वार्ध स्वर – अँ
2. ह्रस्व अ ऍ ऑ
3. दीर्घ आ ए ओ

अन्तर स्वर – 1. इ, ऋ, ऌ, उ, न, म.

मिश्र स्वर – जो उपर्युक्त ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के साथ अन्तर स्वर के संयोग से बनते थे। इनकी संख्या लगभग 36 थी।

मिश्र ह्रस्व – अइ, अऋ, अऌ, अउ, अन, अम

एॅइ, ऍक्र, ऍल्, ऍउ, ऍन, ऍम
ओइ, ओक्र, ओल्, ओउ, ओन, ओम

मिश्र दीर्घ – आइ, आऋ, आऌ, आउ, आन, आम
एइ, एक्र, एल्, एउ, एन, एम
ओइ, ओक्र, ओल्, ओउ, ओन, ओम

व्यंजन

1. अन्तस्थ व्यंजन – य, र, ल, व, म
2. शुद्ध व्यंजन – कवर्ग – 1. क् ख् ग् घ् (इनका उच्चारण निश्चित नहीं है संभवतः क्य ख्य ग्य घ्य जैसा उच्चारण रहा हो)।
   2. क् ख् ग् घ् (उच्चारण कागज के क के समान पूर्णतः कण्ठ्य था;
   3. के खे गे घे (उच्चारण में होठों से सहायता ली जाती रही होगी और उच्चारण क्व, ख्व, ग्व, घ्व की तरह रहा होगा)...

   तवर्ग – त् थ् द् ध्
   पवर्ग – प फ ब भ

अन्तस्थ व्यंजन न और म ही सभी वर्गों के साथ अनुनासिक व्यंजन का कार्य करते थे। इनका उच्चारण स्थायी न रहकर अ और इ भी हो जाता था, विशेष स्थानों पर न और म भी हो जाते थे। मूल भारोपीय भाषा में अनुनासिकता का अभाव था। इसके अतिरिक्त एक से अधिक शुद्ध संयुक्त व्यंजन आ सकते थे पर एक से अधिक मूल स्वर नहीं। सन्धि के नियम भी लागू होते थे।

मूल भारोपीय भाषा का व्याकरण –

1. रूप अधिक थे और व्याकरण जटिल।
2. धातु में प्रत्यय जोड़ कर पद बनते थे।
3. आरम्भ में उपसर्गों का बिल्कुल प्रचलन न था।
4. मध्य सर्ग का प्रयोग नहीं होता था।
5. संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम संज्ञा के अन्तर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय अविकारी न होकर विकारी होते थे।
6. सर्वनाम के रूपों में विविधता थी। पुरुष तीन थे।
7. एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन वचन थे।
8. लिंग तीन, स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसक लिंग थे। उनका विचार केवल

योग दर्शाया
काम लिया
है।
यों को
ग रखे
। गौड़
भाषाएँ
क नहीं है।
वर्तन हो
का लोप
ड़ेरी की
Frank
। सूचित
मन करते
होगी।
के अध्ययन
आधारित
स्वर

संज्ञा में होता था। पहिले प्राकृतिक लिंग थे किन्तु बाद में व्याकरणिक लिंग की उत्पत्ति आरम्भ हो गई।

9. पुरुष तीन होते थे, उत्तम, मध्यम और अन्य।

10. क्रिया में उसके किये जाने और फल का विचार प्रधान था और काल का गौण। मे काल चार थे पर काल विचार विकसित न थे।

11. पद दो थे - आत्मनेपद, और परस्मै पद।

12. संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं।

13. समास का प्रयोग होता था जिसकी रचना में प्रत्ययों को छोड़ दिया जाता था।

14. पद-रचना में स्वर क्रम का महत्वपूर्ण हाथ था। स्वर परिवर्तन से कालपरिवर्तन हो जाता था (drink, drank, drunk).

15. सुर का प्रयोग होता था, भाषा संगीतात्मक थी।

16. सम्बन्ध तत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों इस तरह घुलेमिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना कठिन था।

17. मूलभाषा अन्तर्मुखी श्लिष्ट योगात्मक थी।

18. अपश्रुति प्रणाली थी।

भारोपीय परिवार का वर्गीकरण –

विद्वानों का कहना है कि प्रागैतिहासिक काल में भी भारोपीय भाषा में दो विभाषाएँ थीं। पहले पहल अस्कोली ने 1870 ई. में यह विचार व्यक्त किया कि भारोपीय मूलभाषा की कण्ठस्थानीय ध्वनियाँ (तालव्य कवर्ग) कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गईं, पर कुछ में वे संघर्षी (स, श, ज आदि) या स्पर्श संघर्षी (च, ज आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडले ने इस परिवार के 'सतम्' और 'केंतुम' दो वर्ग बनाये। सौ का वाचक शब्द सभी भारोपीय भाषाओं में पाया जाता है अतः उसी को भेदक मानकर ये नाम रखे गए। मूल भाषा में 100 का द्योतक शब्द चतोम् था जो अवेस्ता में आकर 'सतम्' और लैटिन में केंतुम हो गया।

सतम् वर्ग	केन्टुम वर्ग
अवेस्ता - सतम्	लैटिन - केन्टुम
फारसी - सद	ग्रीक - अकतोम
संस्कृत - शतम्	इटैलियन - केन्टो

सतम् वर्ग	केन्तुम् वर्ग
हिन्दी - सौ	फ्रेंच - केन्त
रूसी - स्तो	केल्टी - कैन्ट
क्रोशियन - स्तो	गैलिक - क्युड
लिथुआनियन - स्जिमतास	तोखारी - कन्ध
	गोथिक - खुंद

प्रारम्भ में विद्वानों ने यह सोचा कि सतम् वर्ग पूर्वी देशों की भाषाओं को तथा केन्तुम् वर्ग पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं के लिए प्रयोग में लाया जाता है, किन्तु पूर्व में हित्ती (एशिया माइनर) तथा तोखारी (मध्य एशिया) दो भाषाएँ ऐसी मिली हैं जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' है। अतः अब पूर्व पश्चिम जैसा कोई भेद नहीं बचा है।

केन्तुम् वर्ग -

भाषाएँ - केल्टिक, जर्मनिक, लैटिन, ग्रीक, तोखारी।

क्षेत्र - 1. केल्टिक - मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस, एशिया माइनर का बड़ा भाग। अब यह आयरलैंड, वेल्स, स्काटलैंड मानद्वीप आदि में सीमित हो गया है। मुख्य भाषाएँ - गॉलिक (गाल) वेल्श (वेल्स) आयरिश (आयरलैंड) स्कॉच (स्काटलैंड का उत्तरी पश्चिमी तथा उत्तरी भाग (अब समाप्तप्राय) मैंक्स (मानद्वीप : अब समाप्तप्राय)।

2. जर्मनिक (ट्यूटॉनिक) भारोपीय परिवार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा है जो अपने ध्वनि परिवर्तनों (ग्रिम नियम, वर्नर नियम और ग्रासमैन नियम) के लिए प्रसिद्ध है। मुख्य भाषाएँ और क्षेत्र - आइसलैंडिक (आइसलैंड) डैनिश (डेनमार्क) नार्वेजियन (नार्वे) स्वीडिश (स्वीडन) अंग्रेजी (इंगलैंड, अमरीका, कनाडा, अफ्रीका आस्ट्रेलिया के अनेक क्षेत्र) जर्मन (जर्मनी) डच (हालैंड) फ्लेमिश (बेल्जियम)। इनमें अंग्रेजी, डच, फ्लेमिश निम्न जर्मन और जर्मन (जिनमें स्वाबियन, बवेरियन, अलमानिक हैं) उच्च जर्मन कहलाती है।

3. लैटिन (रोमांस, इतालिक) - यह वर्ग लैटिन के बोलचाल के रूप से विकसित है। भाषाएँ तथा क्षेत्र - इतालवी (इटली, सिसली) रूमानियन (रूमानिया) फ्रांसीसी (फ्रांस) स्पैनिश (स्पेन) पुर्तगाली (पुर्तगाल)।

4. ग्रीक (हैलेनिक) - इसका क्षेत्र यूनान (ग्रीस) इजियन द्वीप-समूह, अल्बानिया, यूगोस्लाविया बल्गारिया तथा टर्की का कुछ भाग साइप्रस और क्रीट द्वीप है। ग्रीक भाषा में अत्यन्त समृद्ध प्राचीन साहित्य मिलता है। मूल भारोपीय भाषा के व्यंजन

संस्कृत भाषा में अधिक सुरक्षित हैं तो उसके स्वर ग्रीक में। ग्रीक संस्कृत के बहुत समान है। इसमें केवल चार कारकीय रूप हैं, कर्ता, कर्म, संप्रदान और संबंध। इसमें भी तीन लिंग, समास की व्यवस्था, आत्मनेपद, परस्मैपद तथा संगीतात्मक स्वराघात हैं।

5. तोखारी - मध्य एशिया का तुरफान प्रदेश। महाभारत में तुखार रूप में इसी को बोलने वाले लोगों का उल्लेख है। नवी सदी में यह भाषा लुप्त हो गई। संधि-नियमों विभक्तियों तथा शब्द भंडार आदि में यह संस्कृत के काफी निकट है।

सतम् वर्ग -

शाखाएँ - इलीरियम, बाल्टिक, स्लाव, आर्मीनियन, आर्य।

1. बाल्टिक - क्षेत्र - बाल्टिक सागर का किनारा। मुख्य भाषाएँ - लिथुआनियन (लिथुआनिया) लेट्टिश (लाटविया)। इस भाषा का विकास कम हुआ है। यह भी मूलभाषा के निकट है। संगीतात्मक स्वराघात, द्विवचन, रूपित्व (संस्कृत अति) और ... इसमें भाषा भी सुरक्षित हैं।

2. इलीरियन (अल्बेनियन) - मुख्य भाषा अल्बेनियन है जो अल्बेनिया तथा यूनान के कुछ भागों में बोली जाती है। इस शाखा की अन्य भाषाएँ समाप्त हो गई हैं।

3. स्लाव - पूर्वी भाग - रूसी या महारूसी (रूस) श्वेत रूसी (रूस का दक्षिण भाग) लघु रूसी (उक्रेन) पश्चिमी - पोलिश (पोलैंड) चेक (चेकोस्लोवाकिया) दक्षिणी - बल्गारियन (बल्गेरिया) सर्वो क्रोशियन (युगोस्लाविया) स्लोवेनियन - (युगोस्लाविया के दक्षिण)।

4. आर्मीनियन - योरोप और एशिया की सीमा पर कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास इसका क्षेत्र है। इसकी स्तंबुल बोली यूरोप में तथा अरारट बोली एशिया में बोली जाती है।

5. आर्य - अन्य नाम 'हिंद ईरानी' या 'भारत ईरानी' भी है। भारोपीय परिवार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाखा है। इस परिवार का प्राचीनतम एवं प्रामाणिक साहित्य इसी भाषा में मिलता है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के बराबर पुराना ग्रन्थ किसी भी भाषा में नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का रचना काल 2000 ई० पू० माना जाता है और विद्वानों का विचार है कि 1500 ई.पू. तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था। पारसियों का धर्मग्रन्थ जेन्द अवेस्ता भी लगभग सातवीं सदी ई० पू० का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की

भाषाओं का गठन तथा साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए इसी शाखा ने सामग्री दी है। वस्तुतः पश्चिम में भाषा-विज्ञान का अध्ययन तभी से प्रारम्भ हुआ जब से उन्होंने इस आर्य शाखा का अध्ययन किया।

इस शाखा के मूल भाषियों में से कुछ तो ईरान की ओर चले गए और कुछ भारत में आ बसे इस प्रकार इस भाषा की दो शाखाएँ हुईं एक ईरानी दूसरी भारतीय. इन दोनों भाषाओं को अलग शाखा नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में बहुत सी बातों का साम्य यह सिद्ध करता है कि दोनों मूल में एक शाखा के रूप में थी और बाद में अलग हुईं।

भारत और ईरानी में समानता -

1. भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अँ, एँ, ओँ) तथा तीन दीर्घ मूल स्वर (अ, ए, ओ) के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मूल स्वर अँ तथा एक दीर्घ मूल स्वर 'आ' ये दो ही मिलते हैं।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
नेभास	नभस	नबह्
ओस्थि	अस्थि	अस्ति
यग	यज	यज
एपो	आप:	आप

2. दोनों में भारोपीय के अति ह्रस्व या उदासीन स्वर 'अ' के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है जैसे - भारोपीय - पअतेर, संस्कृत - पिता, अवेस्ता - पिता।

3. दोनों में ही मूल भारोपीय र (ऋ) का ल (लृ) और ल (लृ) का र (ऋ) हुआ है। संभवतः इन दोनों ध्वनियों में उस समय विशेष भेद न था। केन्तुम वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं:-

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
	रनकोर	लंघामि	
लुके	लुपुस	वृक:	वह्को
	लिंगो	रेहिम	

4. इस शाखा में इ, उ, क तथा र के पश्चात आने वाला 'स' व्यंजन ईरानी में श हो गया और संस्कृत में ष। कुछ उदाहरण हैं —

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिश्तैमि
जिउस्तय	जोष्ट्र	जओश्री

5 मूल भारोपीय के पुरः कण्ठ्य क् (क्य) ख (ख्य) ग (ग्य) एवं घ (घ्य) भार.-ईरानी शाखा में क्रम से श, श्ह, ज और ज्ह हो गए। कालान्तर में भारत में ये श, ज और ह हो गए और ईरान में स ज और ज़।

6. मूल भारोपीय के कण्ठोष्ठ्य क (क्व) ख (ख्व) ग (ग्व) और घ (घ्व) इस शाखा में शुद्ध कण्ठ्य क ख ग घ हो गए। यदि इनके बाद इ, ए स्वर हुए तो क्रम से च छ ज झ् हो गए।

7. ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरान्त संज्ञाओं के षष्ठी बहुवचन में 'नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

8. दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में तु और न्तु प्रत्यय पाये जाते हैं।

9. बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक से हैं और दोनों में उनका अर्थ भी प्रायः एक सा है जैसे—

संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओज:
अनु	अनु
अन्य	अन्य
विश्व	विस्प
ददामि	ददामि
असुर	अहुर
पुत्र	पुथ्र
सप्त	हप्त
असि	अहि
वसिष्ठ	वहिश्त

10. वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतने समीप हैं कि एक भाषा के बहुत से वाक्य थोड़े से परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाए जा सकते हैं जैसे संस्कृत - शूरं धामसु शविष्ठम् तथा सखने आ ऋतौ आ अवेस्ता में क्रमशः सूरं दामोहु शविश्तम् तथा हवनीम आ रतुम आ बन जाते हैं।

था, एतुम था।

भारतीय एवम् ईरानी में अन्तर –

1. भारतीय में चवर्ग के पाँच व्यंजन हैं (च छ ज झ ञ) जबकि ईरानी में केवल दो व्यंजन च और ज हैं।

2. ईरानी में टवर्ग का अभाव है।

3. पाँचों वर्गों के महाप्राण वर्ण ईरानी में नहीं हैं।

4. पुरानी ईरानी में 'ल' का अभाव है और उसके स्थान पर 'र' है।

5. ईरानी में स्वर बाहुल्य है। ईरानी में 8 स्वर होते हैं जिनके स्थान पर भारतीय में अ या आ का प्रयोग होता है।

6. भारतीय की अपेक्षा ईरानी में आदि स्वरागम और अपिनिहित भी अधिक हैं।

7. ईरानी के शब्दों में आने वाला आदि स, कभी २ अन्यत्र भी भारतीय में 'ह' है जैसे- सप्त - हफ्त।

8. संस्कृत के घोष महाप्राण (घ ध भ) ईरानी में अल्पप्राण (ग द ब) हैं।

9. ईरानी के अघोष अल्पप्राण (क त प) ईरानी में संघर्षी (ख थ फ) हैं।

10. संस्कृत का ऋ ईरानी में अर, र या अ है जैसे कृशाश्व - केरेसास्प।

11. ध्वनि सम्बन्धी अन्तरों के समान व्याकरण सम्बन्धी अन्तर भी बहुत से हैं।

<u>विभाजन</u>

आर्य से - ईरानी, दरद एवं भारतीय।

<u>ईरानी</u>

ईरान में साहित्य रचना बहुत पहले प्रारम्भ हो गई थी किन्तु उन प्राचीन कृतियों का अब कुछ भी पता नहीं है। सिकन्दर ने 323 ई. पू. और अरब के विजेताओं ने 651 ई. में ईरानी का पुराना साहित्य नष्ट कर डाला। अब वहाँ का प्राचीनतम साहित्य पारसी धर्मग्रन्थ अवेस्ता ही है जिसकी भाषा ऋग्वेद से बहुत मिलती है।

अवेस्ता के अन्य नाम प्राचीन बैक्ट्रियन एवं जिन्द भी हैं। धर्मग्रन्थ अवेस्ता के नाम पर भाषा का नाम भी अवेस्ता पड़ गया। अवेस्ता में ऋग्वेद की भाँति गाथा या प्रार्थनाएँ हैं, इसमें यज्न (यज्ञ) विस्पेरद (बलि सम्बन्धी कर्मकाण्ड) तथा वेन्दिदाद (देवादि के विरोधी नियम) भी हैं। जब अवेस्ता वहाँ की जनभाषा नहीं रही और पहलवी का आगमन हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी में की गई जिसे 'जेन्द' कहा गया। अब उन दोनों शब्दों को

मिला कर उस पुस्तक को तथा कभी कभी भाषा को भी ज़ेन्दावेस्ता या ज़िन्दावेस्ता कहा जाने लगा है।

प्राचीन काल में ईरान के पश्चिमी भाग को फारस कहते थे वहाँ की प्राचीन भाषा फ़ारसी थी। कुछ लोग इसे अवेस्ता से निकली मानते हैं परन्तु सत्य तो यह है कि ये ईरानी की ही दो शाखाएँ थीं। यह अवेस्ता की समकालीन तो नहीं पर कुछ ही बाद की है। इसका अलग साहित्य तो नहीं मिलता पर अभिलेखों में प्राप्त सामग्री के आधार पर इसका अध्ययन अवश्य हो सकता है। यह बहुत सी बातों में अवेस्ता से मिलती है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्णमाला अवेस्ता की अपेक्षा अधिक सरल और संस्कृत के अधिक निकट है। प्राचीन फ़ारसी का ही विकसित रूप मध्यकालीन फ़ारसी या पहलवी है। इसका प्राचीनतम रूप तीसरी सदी ई.पू. के कुछ सिक्कों में मिलता है। पहलवी का लिखित साहित्य तीसरी सदी से मिलने लगता है। पहलवी के दो रूप थे। एक का नाम हुज्वारेश था जिसमें सेमेटिक परिवार के शब्दों का आधिक्य है। इसकी लिपि भी सेमेटिक है। अवेस्ता का कुछ अनुवाद भी इस भाषा में उपलब्ध है। इसके व्याकरण पर भी सेमेटिक प्रभाव स्पष्ट है। पहलवी का दूसरा रूप पारसी या पाजंद है जिस पर सेमेटिक प्रभाव नहीं है। इसका प्रचार पूर्वीय प्रदेशों में था। भारत के पारसियों की यही भाषा है यही कारण है कि गुजराती को पाजंद ने बहुत प्रभावित किया है।

जिस प्रकार अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी संस्कृत से मिलती जुलती है उसी प्रकार मध्यकालीन फ़ारसी प्राकृत और अपभ्रंश से।

आधुनिक फ़ारसी वियोगात्मक हो गई है। इसकी आरंभिक कृति फ़िरदौसी (940-1020) का 'शाहनामा' है। इसकी भाषा में अरबी शब्द अधिक नहीं है किन्तु इसके बाद आधुनिक फ़ारसी अरबी से लदने लगी। यह मध्यकालीन की अपेक्षा अधिक सरल और मधुर है। आधुनिक काल में अरबी शब्दों को हटा कर आर्य परिवार के ईरानी शब्दों का प्रयोग बढ़ा है।

आधुनिक फ़ारसी की बहुत सी प्रादेशिक बोलियाँ हैं। यह बहुत निश्चित नहीं है कि इनमें से कौन सी बोलियाँ अवेस्ता से निकली हैं और कौन सी फ़ारसी से। ये बोलियाँ भारत से लेकर कैस्पियन सागर तक फैली हुई हैं। कुर्दी या कुर्दिश में शब्दों के छोटे रूप मिलते हैं जैसे बिरादर से बेरा, सिपेद का स्पी रूप। बलूचिस्तान की बलूची आधुनिक फ़ारसी के निकट है। यह भाषा कुछ संयोगात्मक है। इसमें संघर्षी वर्ण अधिकतर स्पर्श हो गये हैं। पश्तो, अफ़गानिस्तानी या अफ़गानी अफ़गानिस्तान की भाषा है जिस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य रचना तथा बलाघात का प्रभाव पड़ा है। पश्तो का ही एक रूप पख्तो पश्चिमोत्तर अफ़गानिस्तान में बोली जाती है। दोनों में उच्चारण भेद ही प्रधान है।

हिन्दुकुश पर्वत तथा पामीर की तराई में बोली जाने वाली ईरानी बोलियों के समूह को पामीरी कहते हैं। ये गठन की दृष्टि से कैस्पियन सागर के तट पर प्रचलित ईरानी बोलियों से मिलती जुलती हैं।

दरद –

संस्कृत शब्द 'दरद' का अर्थ होता है 'पर्वत'। संस्कृत साहित्य में काश्मीर के पास के प्रदेश को भी दरद कहते थे। दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है। कभी इनको बोलने वाले भारत के अन्य भागों में भी रहे होंगे क्योंकि मराठी सिन्धी पंजाबी आदि पर इनका स्पष्ट प्रभाव है। पश्तो की तरह दरद भाषाएं ईरानी और भारतीय के बीच की हैं पर इनका झुकाव भारतीय की ओर है। प्राचीन काल में इन्हें भारतीय भाषा माना गया था और उन्हें प्राकृत भाषाओं में पैशाची प्राकृत की संज्ञा दी गई थी। दरद वर्ग में खोवार (दर्दिस्तान एवं ईरान के मध्य) चित्राली, काफिर, शीना (गिलगित की घाटी) आदि बोलियाँ हैं। काश्मीर की भाषा काश्मीरी भी दरद वर्ग के अन्तर्गत रखी जाती है। इस पर संस्कृत का प्रभाव काफी पड़ा है। कोहिस्तानी बोलने वाले बहुत कम हैं। मैया तोरवाली इसकी प्रधान बोलियाँ हैं।

भारतीय आर्य भाषा –

भारत ईरानी शाखा के ही कुछ आर्य भारत में आए। विद्वानों का विचार है कि ये कई दलों में भारत में आए। मोटे रूप से यह माना जाता है कि 1500 ई॰ पू॰ के लगभग आर्य भारत में आ चुके थे। इस तरह भारतीय आर्य भाषा का इतिहास 1500 ई॰ पू॰ से लेकर आज तक फैला हुआ है। इन 3500 वर्षों की कालावधि को मोटे तीन वर्गों में बांटा जा सकता है :-

1. प्राचीन भारतीय भाषा काल (1500 ई॰ पू॰ से 500 ई॰ पू॰ तक)
2. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल (500 ई॰ पू॰ से 1000 ई॰ तक)
3. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (1000 ई॰ से आज तक)।

— सावित्री सक्सेना

एम.ए. (उत्त

अनुक्रमांक. . .

उत्तर-प:

पत्राचार
दिल्ली
5, केवे
दिल्ली-

1. 'अवेस्त
2. संस्कृत
3. संस्कृत
कथन

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) संस्कृत प्रश्नपत्र-9

छात्र उत्तर पत्र-11

प्राप्तांक. . . . .

अनुक्रमांक. . . . . प्राध्यापक के हस्ताक्षर. . . . .

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्त्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, केवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-110 007

नाम ....

पता ....
....
....

पिन कोड ....

शिक्षा सत्र 2008-09

1. 'अवेस्ता' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. संस्कृत और अवेस्ता की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. संस्कृत और अवेस्ता एक ही परिवार की दो भाषाएँ हैं। स्वरों और व्यञ्जनों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस कथन को प्रमाणित कीजिए।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) संस्कृत प्रश्नपत्र-9

छात्र उत्तर पत्र-12

प्राप्तांक..............

अनुक्रमांक.............. प्राध्यापक के हस्ताक्षर.........

उत्तर पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्त्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, केवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-1100 07

नाम ....
पता ....
....
....
पिन कोड ....

शिक्षा सत्र- 2008-09

1. पालि भाषा के नामकरण पर टिप्पणी लिखए-
2. पालि भाषा के मूल स्थान पर प्रचलित विभिन्न मतों का विवरण देते हुए उसके सामान्य स्वरूप पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. संस्कृत और पालि की ध्वनियों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

एम.ए. (उ
अनुक्रमांक. .
उत्तर
पत्रा
दिल्ल
5, के
दिल्ल
1. प्राकृ
2. निम्
1.
2.
3.
4.
5.

नपत्र-9

......

ी लिखिए।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

संस्कृत

प्रश्नपत्र-9

छात्र उत्तर पत्र-13

प्राप्तांक..............

अनुक्रमांक..............

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..........

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्त्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, केवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-1100 07

नाम ....

पता ....
....
....

पिन कोड ....

शिक्षा सत्र 2008-09

1. प्राकृत भाषाओं के नामकरण पर विचार करते हुए उनकी ध्वनि सम्बन्धी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-
   1. पैशाची,
   2. माहाराष्ट्री,
   3. शौरसैनी,
   4. मागधी,
   5. अर्धमागधी,

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) **संस्कृत** **प्रश्नपत्र-9**

छात्र उत्तर पत्र-14

प्राप्तांक. . . . .

अनुक्रमांक. . . . . **प्राध्यापक के हस्ताक्षर.** . . . .

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-

पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, केवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-1100 07

नाम ....

पता ....
....
....

पिन कोड ....

शिक्षा सत्र 2008-09

1. संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की ध्वनियों का तुलनात्मक विवेचन करिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दीजिए–
   1. अभिलेखीय प्राकृत,
   2. पश्चिमोत्तरी बोली,
   3. दक्षिण पश्चिमी बोली,
   4. पूर्वी बोली।

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) संस्कृत प्रश्नपत्र-9

छात्र उत्तर पत्र-15

प्राप्तांक. . . . .

अनुक्रमांक. . . . . प्राध्यापक के हस्ताक्षर. . . . .

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें:-
पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनुवर्त्ती शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
5, केवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-1100 07

नाम ....

पता ....
....
....

पिन कोड ....

शिक्षा सत्र 2008-09

1. अपभ्रंश भाषा के नामकरण पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।
2. संस्कृत और अपभ्रंश की ध्वनियों की तुलना कीजिए।
3. अपभ्रंश के बारे में आप क्या जानते हैं? संस्कृत के साथ उसकी तुलना करते हुए एक लघु निबन्ध लिखिए।